मुद्रक:-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस-सूरत

प्रकाशक:-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
प्रकाशक, 'जैनमित्र' व मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय
चन्दावाडी-सूरत

भूमिका।

शुद्ध आत्माके अनुभवसे ही सुख शांतिका लाभ होता है तथा इसीका अभ्यास ऐसे पदमें पहुंचा देता है कि जहां सदा ही सुख शांति रहती है। यह **इष्टोपदेश** ग्रंथ आत्मानुभवके लिये परम उदार दातारके समान है। श्री **पूज्यपादस्वामी** बड़े प्राचीन आचार्य तीसरी चौथी शताब्दीमें होगए हैं, जिनके द्वारा बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना हुई है। श्री तत्वार्थसूत्रकी वृत्ति सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्रव्याकरण व समाधिशतक ये प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इसकी संस्कृतवृत्ति १३ वीं शताब्दीमें प्रसिद्ध मालवा निवासी पंडित आशाधरने की थी। उसीका आश्रय लेकर यह भाषाकी रचना संगठित की गई है। यदि कहीं भावमें भूल रह गई हो तो तत्त्वानुभवी विद्वज्जन सुधारकर मुझे सूचित करें। इसके मुद्रणमें संशोधनकी असावधानीसे बहुतसी भूलें रह गई हैं सो पाठकगण शुद्धाशुद्धि पत्रसे पहले ठीक करके पढ़ें जिसमें अर्थमें कोई भ्रम न पड़े। हम स्वयं दूर होनेके कारण शोधनकर नहीं सके—इसके लिये हम पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हैं। यह ग्रंथ सर्व साधारणके सुगम बोधके लिये ५१ श्लोक होनेपर भी विस्तारसे लिखा गया है। सर्व जैन मंदिरोंके सरस्वती भंडारके अध्यक्षोंको उचित है कि इसकी लिखित प्रति भंडारमें विराजमानकर एक दफे शास्त्रसभामें अवश्य बंचवावें। इसका प्रकाश धर्मप्रेमी लाला **बरातीलालजी** बहियागंजने अपने पूज्य पिता लाला **दामोदरदासजी**की स्मृतिमें करके 'जैनमित्र' के ग्राहकोंको विनामूल्य वितरण किया है जिससे उनको आत्मलाभ हो।

कलकत्ता, वीर सं० २४४८ आश्विन सु. १५ ता, ५-१०-२२	अध्यात्मरसिक— ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद।

समर्पण ।

यह श्री इष्टोपदेश टीका धार्मिक ग्रन्थ मैं अपने पूज्य पिता लाला दामोदरदासजीकी स्मृतिमें "जैनमित्र" के ग्राहकोंके करकमलोंमें सविनय समर्पित करता हूं। इस ग्रन्थकी टीका मेरे पूज्य मामा जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने लखनऊमें वीर सं० २४४५के चातुर्मासके अवसर पर बड़े परिश्रमसे की है। आशा है कि आप यथेष्ट लाभ उठाकर अनुग्रहीत करेंगे।

विनीतः-

बरातीलाल जैन ।

शुद्ध्याशुद्धि पत्र

पृ०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
२	२१	नमस्कार	नमस्कार करते हैं।
४	१८	होता हो	होता तो
५	१४	करनेवाला	करनेवाला ॥
६	१३	आम्रकल	आम्रफल
११	१३	कारण है	कारण कहते हैं
१२	१३	उसको	उसकी
१३	१८	आत्माध्यान	आत्मध्यान
"	२०	शरीर	संहनन
"	२१	सुद्रव्य	सुकाल
१५	२१	बडा भेद	बडा भेद है वैसा ही व्रती और अव्रतीमें है।
१७	९	दिक्षा	शिक्षा
२०	१०	भावार्थ इसलिये	इसलिये
२३	३	निर्विक्कता	निर्विकल्पता
२३	५	जाता तो	जाता जो
२९	१२	वृद्धि	वुद्धि
३०	११	कुतोऽथक्षाश्च	कुतोऽक्षाश्च
३१	१२	घृतिमता	धृतिमता
"	१६	चंद्रमासे	चंद्रमाकी
३२	१६	कर्मवध	कर्मबंध
३९	९	अज्ञानीको	अज्ञानीकी

,,	१२	जनता	जानता
४०	१९	दृड़	दृढ़
,,	२०	पुनरप्भ	पुनरप्य
४३	१	पदार्थोंका	पदार्थोंको
४४	२	तिर्यंच	तिर्यचं
५१	१२	उंडा	डंडा
,,	१५	दूसरेको	दूसरेकी
५४	२०	प्रत्याख्याव	प्रत्याख्यानाव
५५	९	उपकार	अपकार
५६	१८	वांधक	बांछक
५९	६	णिह सण्गिहण्णो	णिहणो सणिहणो
,,	१७	यह	यहां
६८	२१	जीव संसार	संसारी जीव
७१	२१	मुनीमोंकी	मुनीमोंको
७४	१०	तदस्ता।	तदास्ती
७५	८	बाधि	व्याधि
८१	२२	आदमी	आदमीको
८३	१४	शरीरका	शरीरको
९४	१२	आर्थिम्यस्तृ	अर्थिभ्यस्तृ
९५	४	घाकता	घापता
१०२	१०	साथ साथ	साथ
१०८	१२	शरीरधारी	शरीर
१०९	१	उपकार	अपकार

१०९	२२	खलीवत् मिल सक्ता है और	मिल सक्ते है और खलीवत्
११०	१	विषयों	विवेकियों
११५	२	वज्र	वड़
,,	१३	तत्ता०	तत्त्वा०
११६	१८	विशेषरूप	विरोधरूप
१२१	१४	नारिसओ	तारिसओ
,,	१२	कर्म भाव	भाव
१२९	८	आस्तित्त्व	अस्तित्त्व
१३०	४	श्रत्	यत्
,,	५	दयाति	ददाति
१३२	१७	भयमेति	मयमेति
१३७	६	दृगुप्ति	दृग्ज्ञप्ति
,,	७	ते चेतति	तं चेतति
,,	८	एय	ण्य
१३९	११	युक्त	मुक्त
१४१	२	निममत्त्वं	निर्ममत्त्वं
,,	१३	परौ अ	पयाति
१४३	१६	भ्रण	भ्रमण
,,	२१	ममहंकार	ममाहंकार
१४४	१३	इन्हों	इन्हीं
१४५	१९	भिकौ	भिक्को
,,	२१	तच्च	तच्चं

१४२	२३	वणिंणंदो	वणिगडो
१४७	१८	सतारेसे	सहारेसे
१४९	२०	जोणंता	जाणंता
१५२	७	सतमन्ध	सम्बन्ध
१५४	१४	(मै)	(मे)
,,	२०	(मैं)	(मे)
१५७	११	लेने	होने
,,	२१	ज्ञानीनो	ज्ञानिनो
१५९	६	रुधिरचार	रुधिर संचार
१६२	१	खोए	खाएं
१६२	२२	वत्थवि	कत्थवि
१६६	२	वीडा	वीज
,,	,,	निण्यत्ते	निप्पत्ते
१६७	६	आचार्यको	आचार्य
,,	१५	स्वाभाव	स्वभाव
१७१	६	समझता	समझाता
१७७	१७	विज्ञत्त्व	विज्ञत्त्व
१७९	१६	न उसकी	उसकी
१८०	९	उपादानका	उपादान
१८१	१८	स्थानमें अपने	स्थानमें
,,	२१	उत्पन्न होती	उत्पन्न न होती
१८३	४	म	मे
१८४	१	चिंतये	चिंतये

१८१	९	मैं	मैं
,,	२३	कोई	कुछ
१८५	१२	क्षोभरहित	क्षोभरहित
१८६	१६	करनेवाली	करनेवाला
१८७	१७	सुखाभासं	सुखाभासं
१८८	११	पूर्वका	पूर्वक
१९१	२१	ज्ञान, रूप,	ज्ञानरूप
१९१	११	आत्मपरिग्रह	परिग्रह
१९४	१२	भोजन	भाजन
१९५	१६	चार	चर
१९६	२	और मैं	कि मैं
१९७	२१	निद्रा	निन्दा
१९८	१२	लक्ष्मा:	लक्ष्मी:
१९९	२	ता	तो
,,	२१	ध्यान	दुर्ध्यान
२०३	९	जिम काय	जिम कार्य
२०५	८	णाय	णय
,,	१२	यारिद्र्य	दारिद्र्यं
२०९	३	मंद	भेद
,,	२१	व अंतरगं	वह अंतरंग
२१०	७	नित्त्या	नित्त्यो
२१५	१४	अनुभवता	न अनुभवता
२१६	२	हवद	हवइ

२१७	१७	अर्थात् अपने	अपने
२१९	१२	भटकता	भटकाता
२२०	६	भयमेति	भयमेति
,,	२०	ज्ञाण	ज्ञाण
२२१	६	वर्तानों	वर्तनों
२२१	८	चरों	चारों
,,	२०	वेदीय	वेदयि
२२१	२१	अज्ञादेव	अज्ञानादेव
२४४	१४	निपुण	निपुणै
२२७	१६	अत्मा	आत्मा
२३२	८	स्वस्मानंद	स्वात्मानंद
२३३	७	अव्यवाघ	अव्याबाघ
२३४	७	अकुलताएं	आकुलताएं
२३६	४	उत्पन्न	उन्मत्त
,,	९	जहां	कहां
२३८	१५	विचार	विचारा
२३९	११	स्वरूपता	स्वरूपका
२४०	१	जीवको	जीवके
२४४	१७	स्वात्मध्यन	स्वात्मध्यान
२४८	५	शुद्धोपयोग	शुभोपभोग
२५५	३	सेतु	न से
२५६	८	तोतें	तातें

संक्षिप्त जीवनचरित्र

स्वर्गवासी श्रीमान् लाला दामोदरदासजी

भूतपूर्व मंत्री, जैनधर्मप्रवर्द्धिनी सभा,

लखनऊ शहर।

श्रीमान् लाला दामोदरदासजी लखनऊमें एक नमूनेदार बुद्धिमान, धर्मात्मा तथा प्रतिष्ठित जैनी थे। आपका जन्म विक्रम संवत् १९२३में हुआ था। आपके पिता लाला लछीमलजी मैत्तल गोत्र, अग्रवाल दिगम्बर जैन जातिके साधारण स्थितिके गृहस्थ थे। आपके पिता चार भाई थे, सबसे बड़े लाला लछीमलजी, उनसे छोटे लाला बेलीमलजी, उनसे छोटे लाला प्रभूदयालजी और सबसे छोटे विश्वेश्वरनाथजी थे। लाला दामोदरदासजीके एक सगे छोटे भाई लाला दुरगाप्रसादजी अब मौजूद हैं। आपके पिता कलकत्ते (मटिया बुरज) में लखनऊके नवाब वाजिद अली साहबके यहां सामान देते थे। जब नवाब साहब लखनऊ छोड़कर मट्या बुरज कलकत्तेमें रहने लगे तब आपके पिताजीको भी अपनी दुकान वहां ही लेजानी पड़ीथी और आपके तीनों चचा यहा चिकन व बजाजी आदिका काम अलग २ करते थे। आपको अपनी बाल्या-वस्थासे ही विद्याभ्यासका बडा शौक था। आपके पिताके कलकत्ते रहनेके कारण आपको विद्याभ्यासकी प्रेरणा न करने पर भी आप ८ वर्षकी अवस्थासे ही श्री जिनमंदिरजीमें रोज पूजा पढ़ा करते थे। जब आपकी अवस्था ११ वर्षकी थी तब आपका विवाह लख-

नऊमें लाला नन्हेंमलजी गोटेवाले वैष्णवधर्मावलंबीके यहां हुआ था। आपके विवाहके २ वर्षके पश्चात् ही आपकी स्त्रीका स्वर्गवास होगया, उस समय आपकी अवस्था १४ बरसकी थी तौ भी आप हिन्दी अच्छी तरह पढ़ गए थे और आप श्री मंदिरजी यहियागंजमें रोजाना सभाका शास्त्र बांचने लगे थे, उस वक्त आपको अंग्रेजी फारसी पढनेका शौक पैदा हुआ और आप लखनऊ जुबिली हाई-स्कूलके प्रिन्सिपल साहबके पास जाकर मिले और उनसे कहा कि मुझको अंग्रेजी पढना मंजूर है मगर मेरी अवस्था इस समय १४ वर्षकी है अगर मुझको एक साल बाद १ दरजा मिलेगा जैसा कि कायदा है तो मैं न पढ सकूंगा। आप मेहरबानी करके मेरे ऊपर यह कृपा करें कि छ माही परीक्षामें १ सालका कोर्ष याद करके यदि परीक्षामें पास होजाऊं तो मुझको ऊंचा दरजा मिल जाया करे। प्रिन्सिपल साहबने यह बात मंजूर करली, तब आपने अंग्रेजी पढना शुरू किया और इसी तरह दरजा चढ़ते गए, उस वक्त आपके पिताजीने मना भी किया परन्तु आप विद्याकी रुचिके कारण अपने पिताजीकी अप्रसन्नता उठाते हुए भी रातदिन पढनेमें ही परिश्रम करते रहे, और १८ वर्षकी अवस्थामें ही आप मिडिल क्लासकी परीक्षा देकर स्कूलमें सबसे प्रथम आए, उस वक्त आपको स्कूलसे स्कालरशिप मिलने लगी।

उसी समय आपका दूसरा विवाह १८ वर्षकी अवस्थामें लाला मक्खनलालजीकी सुपुत्री (जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतल-प्रसादजीकी बडी बहिन) के साथ हुआ। ब्रह्मचारीजीने अपनी बहिनको कन्यावस्थामें ही विद्याभ्यास कराकर बहुत सुशीला और

धर्मात्मा बना दी थी। आप स्कूलमें विद्याध्ययन करते रहे और २० वर्षकी अवस्थामें आपने एन्ट्रेंसका इम्तिहान दिया। आप इम्तिहान दे ही रहे थे कि कलकत्तेमें नवाब साहबका स्वर्गवास हो गया। और आपका बहुतसा रुपया डूब गया। इससे आपके पिताजी दूकान उठाकर लखनऊ आनेकी तैयारी कर ही रहे थे कि आपके चचा लाला विश्वेश्वरनाथजी चिकनका माल बेचनेके वास्ते कलकत्ते गये। वहां जाकर उन्होंने सब हाल देखकर अपने बड़े भाईसे कहा कि आप लखनऊ न जाइये, यहां ही चिकनकी दूकान कर लीजिये, हम आप यहा रहेंगे और लड़के वहांसे माल बनवाकर भेजेंगे। लाला लक्ष्मीमलजीने अपने छोटे भाईकी बात मानली और लखनऊ आकर आपसे कहा कि अब तुमको पढ़ना छोड़ना होगा और यहां अपने दोनों भाई-योंके नामसे दूकान करनी होगी। हम कलकत्तेमे चिकनके मालकी दूकान करेंगे, तुम यहासे माल बनवाकर भेजना। आपने अपने पिताकी आज्ञा मानकर पढ़ना छोड़ दिया और **दामोदरदास दुरगाप्रसाद** के नामसे दूकान खोल दी। आपके पिताजीने कलकत्ते जाकर तुलापट्टी बाजारमें एक दूकान किराये पर लेकर **विश्वेश्वरनाथ दामोदरदास** के नामसे दूकान खोल दी।

आपने पढ़नेमें इस कदर परिश्रम कियाथा कि आपको श्वास-का रोग हो गया जिससे आपको बहुत तकलीफ रहती थी। आपने हजारों रुपये दवाईमें खर्च किए परन्तु किसी भी प्रकार आप इस रोगसे निरोग न हो सके। अंतमें इसी रोगके कारण आप शीघ्र शरीर त्याग गये।

आपकी लखनऊकी दूकानने खूब तरक्की की। आपका चिकनका माल कलकत्तेकी दुकानके सिवाय और बहुत बड़े २ शहरों (मुम्बई, अहमदाबाद, दिल्ही आदि स्थानों) में जाने लगा और आपकी कलकत्तेवाली दूकान भी खूब चली और आपने अपनी चतुराईसे थोड़े ही समयमें बहुत द्रव्य उपार्जन कर लिया यहांतक कि बहुतसी स्थावर मिलकियत भी करली। आपकी धर्मकी तरफ विशेष रुचि थी। यहियागंजके श्रीमंदिरजीमें सभाका शास्त्र आप ही बांचते थे।

यद्यपि आपको संस्कृतका ज्ञान न था परन्तु आपकी बुद्धि इतनी विलक्षण थी कि जैसा शास्त्रका व्याख्यान आप करते थे वैसा अच्छा विद्वान् भी मुश्किलसे कर सक्ता था।

वि० सं० १९१० में आपने जैन सभा लखनऊके मंत्रित्व पदको स्वीकार किया। आपने सभाके कार्यसे लखनऊ समाजकी बहुत उन्नति की जिस उद्योगसे लखनऊमें जैन पाठशाला, जैन औषधालय स्थापित होगये, जैन बागमें नवीन मंडप भी करीब १ एक लाख रु० की लागतका आपहीके प्रयत्नसे लखनऊ जैन समाजने बनवाया और हर साल मिती माघ शुक्ल ९ मीको रथोत्सव करना निश्चित किया। आपने २२ वर्ष सभाके मंत्रित्वका कार्य बड़ी ही उत्तम रीतिसे किया। आपकी कोठी छापाबाजारमें आपके चचा लाला विश्वेश्वरनाथजीने मनोज्ञ चैत्यालय निर्मापित कराया और श्री मंदिरजी यहियागंजके सामने एक बहुत बड़ा बाग धर्मशालाके वास्ते खरीदा है।

आपके दूसरे चचा ला० प्रभूदयालजीने भी श्री मंदिरजीके सामने धर्मशाला बनवाई है। आपने यहियागंजमें एक कोठी व

एक मकान इसलिये बनवाया है कि जिस किसीको विवाह आदि व और किसी कार्यके वास्ते मकानकी आवश्यक्ता हो वह अपना कार्य उसमे कर ले। लखनऊमें आपके बहुतसे मकानात व दूकानें किराये पर चलती है और आपका बहुत यश है। जनताके बहुतसे आपसके झगडे आप ही तय कर दिया करते थे। आप श्रीगिरनार-जी, शिखरजी आदि करीब २ सब तीर्थोंकी यात्रा कर चुके थे।

आपने अपने बड़े पुत्र लाला **बरातीलाल**जीका विवाह लखनऊमें ला० देवीदासजी गोटेवालों (सभापति, जैन सभा लखनऊ)की सुपुत्रीके साथ बडी धूमधामसे किया था। आपने मरते समय दो पुत्र छोड़े थे जिसमें १ का देहांत हो गया।

आपके छोटे भाई लाला दुर्गाप्रसादजीके १ पुत्र व २ पुत्रियां हैं। आपके चचा लाला विश्वेश्वरनाथजीके भी १ पुत्र लाला जिनेश्वरदासजी हैं और २ पुत्रियां हैं। दूसरे चचा लाला प्रभूदया-लजी अपना चिकन व कपड़ेका रुजगार अलग करते हैं उनके भी १ पुत्र ला० सुमेरचंदजी हैं।

वि० सं० १९७१ में माघ शुक्ल १को आपका ५० वर्षकी अवस्थामें अचानक स्वर्गवास हो गया, जिससे आपके कुटुंबियोंको तथा लखनऊ निवासियोंको अत्यंत दुःख हुआ।

आपकी धर्मपत्नीने स० १९७४ में अपने स्वर्गीय पतिकी स्मृतिमें **जैन सार्वजनिक पुस्तकालय** स्थापित कराया, जिसको जैन समाज लखनऊ अपने द्रव्यसे चला रही है। श्रीमान् बाबू अजितप्रसादजी वकील पुस्तकालय प्रबंधक कमेटीके सभापति व लाला बरातीलालजी मंत्री हैं।

संवत् १९७६ में मिती कार्तिक वदी १२को आपके छोटे पुत्र ज्ञानचंदका १० वर्षकी अवस्थामें और उसके २ दिन बाद

ही आपकी धर्मपत्नीका ४० वर्षकी अवस्थामें स्वर्गवास हो गया, इन दोनोंके स्वर्गवास होनेसे आपके बड़े पुत्र लाला बरातीलालजी-को असीम दुःख हुआ, परन्तु श्रीमान् जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके संबोधन करनेसे उनका चित्त शान्त हुआ। बरातीलालजी बहुत उत्साही धर्मप्रेमी सज्जन अपने पिताके समान हैं।

लाला बरातीलालजीने सं० १९७७में जैन सभाके मन्त्रित्व-पदको स्वीकार किया। आपने अपने तथा अपने मित्र चिरंजीलाल मथुरावालोंके प्रयत्नसे सं० १९७१में १ **जैन सम्मेलन नाटक** जैन समाज द्वारा स्थापित कराया जिसके सभापति बाबू फतेहचंदजी जौहरी हैं। नाटकद्वारा आपने कई शिक्षाप्रद अभिनय रथोत्सवके अवसरपर दिखलाकर जैन समाज तथा अन्यमतावलम्बियोंसे बहु-तसी कुरीतियां दूर कराईं। आप हीके प्रयत्न तथा जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके उपदेशसे लखनऊ जैन समाजमें वेश्या-नृत्य विवाह आदि खुशीके मौकोंपर बिलकुल बंद हो गया। और जैनपद्धतिके अनुसार विवाह आदि शुभ कार्य करानेकी समाजको बहुत प्रेरणा की है और यथाशक्ति प्रचार भी हो रहा है। आपहीके प्रयत्नसे लखनऊमें गतवर्ष महासभाका अधिवेशन बड़ी ही सफलताके साथ हुआ था और आपहीने स्वागत समितिके मंत्रित्वका कार्य बहुत परिश्रमके साथ किया था। आपकी कलकत्तेवाली दुकान लाला विश्वेश्वरनाथ दामोदरसजीके नामसे अब भी चल रही है और ९ दूकानें लखनऊमें निम्न लिखित नामसे हैं—

दामोदरदास दुरगाप्रसाद चिकनवाले, यहियागंज।

दामोदरदास जिनेश्वरदास, कोठीकपड़ा, छापाबजार।

मुन्नेलाल जिनेश्वरदास, गोटावाले, विक्टोरिया स्ट्रीट।
बरातीलाल जैन एण्डको॰ जनरल मर्चेंट यहियागंज।
बरातीलाल चिरंजीलाल बरतनवाले, अमीनाबाद।

ला॰ दामोदरदासजीमें एक विशेष गुण यह था कि वह इस तरहसे अन्योंके साथ व्यवहार करते थे कि उनका कोई शत्रु नहीं होता था किन्तु सर्व मित्र ही रहते थे। सभामें आपके भाषणका ऐसा असर पड़ता था कि जिस कार्यको आप मनमें ठान लेते थे कि होना चाहिये उस कार्यको आप करके ही रहते थे, बड़े २ कठिन कार्योंमें लोग आपकी सम्मति लेते थे, आप कचहरीके कार्योंमें बड़े चतुर थे। वकीलोंको भी आपकी सम्मतिसे लाभ पहुचता था। श्वेताम्बर जैन समाजके साथ जो शिखरजीकी पूजाका मुकद्दमा चला था, उसमें आपकी प्रमाणिक गवाहीका हाईकोर्टोंके जजोंपर भी असर पडा है। धर्मके कार्यमें आप हरतरह मुस्तैद रहते थे। लखनऊमें जो कुछ धर्मकी रौनक थी वह सब आपके गाढ प्रयत्नका फल था। आप घंटों सभामें सभासदोंके इन्तजारमें बैठे रहते थे, कभी घबड़ाते न थे। आपके धैर्यके फलसे ही लखनऊ सभा व उसके आधीनकी संस्थाए बराबर चलती रहीं और अबतक वे चल रही है जिसमें प्रयत्न उनहीके सुपुत्रका है। सच है धर्मात्मा पुरुषोंके पुन्यके उदयसे कभी कभी २ उनके सदृश पुत्र ही होते है। आप इतने परोपकारी थे कि अपनी जातिमें व अन्य कोई भाई या बहन आपसे द्रव्यकी इच्छा करते तो आप फौरन उधार देकर उसका काम निकाल देते थे। जैन समाचार पत्र बराबर पढते थे। यदि कोई संकट व हानि हो जाती थी तो आपका मन भेद-विज्ञानसे उसका दुःख नहीं मानता था। आप सदा प्रसन्नमुख

दीखते थे। आपके कुटुम्बमें धनकी वृद्धि होनेमें मूल उद्योगी आप थे। आपके सुपुत्र बरातीलाल भी आपके ही जीवनका अनुसरण कर रहे हैं और धर्म व जातिकी सेवामें अच्छी तरह लवलीन हैं।

"आपने कभी अपना फोटो नहीं लिवाया था जिससे हम आपका फोटो देनेसे लाचार हैं, इस लिये हमने उनके सुपुत्र **बरातीलालजीका ही फोटो** देना उचित समझा। क्योंकि पुत्रका चित्र पिताके चित्रका भाव अंतरंगमें खींच सक्ता है। आपके मनमें किसी धर्म कार्यको करनेकी इच्छा थी कि जिसमें अपनी सम्पत्तिको सफल करें, परन्तु यकायक कालका ग्रास हो जानेसे आप नहीं कर सके। अब उनके लघुभ्राता तथा उनके सुपुत्रने विचार किया कि अपने कुटुम्बमें प्रकट १ आदर्श पुरुषकी स्मृतिमें कोई विशेष धर्मका कार्य करें।

इसी लिये यह "इष्टोपदेश" ग्रन्थ उनके सुपुत्र लाला बरातीलालजीने उनकी स्मृतिमें प्रकाशित कराके ज्ञानदानका यह एक प्रशंसनीय कार्य किया है। इसी तरह और भी अन्य कोई बडा काम करके अपने पिताके यशको चिरकाल जाग्रत रखना चाहिये। धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोंके साधक एक नमूनेदार गृहस्थका नाम यदि देखना हो तो लखनऊ निवासी **लाला दामोदरदासजीका** स्मरण कर लेना चाहिये।

आपकी स्मृतिमें जो यह 'इष्टोपदेश' ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है वह मनुष्य समाजके लिये बहुत ही उपयोगी है।

समाज सेवक—**मूलचंद किसनदास कापड़िया,**
प्रकाशक।

श्रीमान् लाला बरातीलालजी जैन-लखनऊ।

(स्वर्गवासी लाला दामोदरदासजीके सुपुत्र)

श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचित—

श्रीइष्टोपदेशकी भाषाटीका*

दोहा—परम शुद्ध अविकार गुण, हैं अनंत जा ठौर।
भेद रहित आनन्दमय, बंदौ जग सिरमौर॥
परमातम सबमल रहित, ज्ञान-वीर्य सुखधाम।
तनुमें हो वा तन रहित, बंदौ आठो जाम॥
ऋषभनाथको आदिले, महावीर पर्यंत।
जिन शासन उपदेष्टा, मिथ्या तिमिर नशंत॥
वर्तमान चौवीस प्रभु, क्षत्री वीर्य्य प्रकाश।
नमन करत पूजन करत, होत पापको नाश॥
साध्य कियो निज अर्थको, हैं कृतकृत्य महान।
निज सत्तामें थिर सुखी, नमहुं सिद्ध भगवान॥
वृषभसेनको आदिले,-गुरु गौतम गण धार।
चार ज्ञानधारी नमहुं, निज अनुभव कर्तार॥
भद्रबाहु श्रुतकेवली, परम साधु गुणधार।
चन्द्रगुप्त नृप बंद कर, मुनि पद लियो विचार॥

---

* प्रारम्भ मिती श्रावण वदी १० प्रात शनिवार ता० ३०-७-२१

संघ धर्म रक्षा करण, दक्षिण दिशमें जाय।
निर्मल चारितके धनी, दोनोको सिरनाय॥
श्री कुंदकुंद मुनिराजको, सुमरूं बारम्बार।
आतमतत्त्व सुग्रंथमें, दर्शायो अविकार॥
श्री उमास्वामि महाराजको, नमहुं त्रियोग सम्हार।
तत्वारथमें तत्त्वको, कियो सुगम विस्तार।
श्री पूज्यपाद मुनिराजको, ध्यान करूं मन लाय॥
भव्य जीवको हित कियो, इष्ट उपदेश रचाय॥
आशाधार पंडित गुणी, टीका रची विशाल।
देख तिसे भाषा करूं, प्रगटे आतमलाल॥

संस्कृत टीकाकारका मंगलाचरण।

श्लोक–परमात्मानमानम्य, मुमुक्षुः स्वात्मसंविदे।
इष्टोपदेशमाचष्टे, स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम्॥

भावार्थ कर्मबंधसे मुक्तिको चाहनेवाला मैं आशाधर परमात्माको नमस्कार करके अपने आत्मामें अनुभवकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार प्रगट रूपसे इस इष्टोपदेशका व्याख्यान करूंगा।

उत्थानिका–आगे पहले ही ऐसा विचारकर कि जो जिसके गुणोंकी प्राप्तिको चाहता है वह उन गुणोंके धरनेवाले विशेष पुरुषको नमस्कार करता है। इस ग्रंथके कर्ता श्री पूज्यपाद स्वामी परमात्माके गुणोंके अर्थी होकर परमात्माको नमस्कार

श्लोक-यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

सामान्यार्थ-जिसके स्वयं अपने ही पुरुषार्थसे सर्व कर्मोके नाश किये जानेपर अपने स्वभावकी प्राप्ति हुई है उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमात्माको नमस्कार हो।

विशेषार्थ अन्वय सहित-(यस्य) जिसके (स्वयं) अपने ही द्वारा अर्थात् पूर्ण रत्नत्रयमई भावके द्वारा (कृत्स्नकर्मण.) सम्पूर्ण द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि और भाव कर्म रागद्वेषादि जो आत्माको परतंत्र रखनेमें या उसे स्वाधीन न होनेमें निमित्त हैं उनके (अभावे) कर्मशक्ति रूपसे नष्ट हो जानेपर अर्थात् आत्मासे द्रव्य कर्मोकी वर्गणाओंके छूट जाने पर (स्वभावाप्ति.) अपने निर्मल और निश्चल चैतन्य स्वरूपकी प्राप्ति होगई है अर्थात् निर्विकल्प समाधिकी अपेक्षा अपने निज स्वरूपसे तादात्म्य परिणति अर्थात् एकता हो गई है अर्थात् कृतकृत्य होनेसे अपने स्वरूपमें स्थिरता हो गई है (तस्मै) उस (संज्ञानरूपाय) सम्यक् अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थोंको साक्षात्कार करनेवाला यहां तक कि अत्यंत सूक्ष्म परमाणु आदि तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीवादिकोंको भी प्रत्यक्ष देखनेवाला और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनी और अंतराय कर्मोंके नाश होनेपर सम्पूर्ण विकारोंको दूर छोडनेवाला जो सपूर्ण केवलज्ञान आपापरको जाननेवाला उस रूप है स्वभाव जिसका ऐसे (परमात्मने) परमात्माको अर्थात् अव्याबाध और अक्षीण अतिशय पनेके धारणसे सम्पूर्ण संसारी जीवोंसे उत्कृष्ट है चैतन्य आत्मा जिसका ऐसे पवित्र आत्माको (नमोऽस्तु) नमस्कार हो।

इस तरह आधे श्लोकमें परमात्म स्वरूपकी प्राप्तिका उपाय बताया है और नीचेके आधे श्लोकमें आराधने योग्य परमात्माका स्वरूप कहा है।

भावार्थ-इस श्लोकमें स्वामी पूज्यपादने इष्टोपदेश ग्रंथका सार ही वर्णन कर दिया है-जिसमें पहले तो यह बताया है कि यह आत्मा अनादि कालसे कर्मोंसे बद्ध होनेसे स्वतंत्र नहीं है और न अपने निज स्वभावमें कल्लोल कर रहा है इसीसे संसारमें भ्रमण करता हुआ साधारण आत्माकी दशामें पडा हुआ अनेक प्रकार क्लेश और बाधाओंका अनुभव कर रहा है। यहां इस बातको अपने अनुभवसे निश्चय कर लेना चाहिये कि मै स्वयं आत्मा हूं क्योंकि 'यः अतति गच्छति जानाति सः आत्मा' इस व्युत्पत्तिसे जो जाननेवाला है वही आत्मा है क्योंकि मै जाननेवाला हूं और शरीर जाननेवाला नहीं है इसलिये मैं आत्मा हूं और उस शरीरसे भिन्न हूं जिसमें ज्ञान नहीं है और जो पुद्गलकी परमाणुओंसे मिलकर रचा हुआ है। पुद्गलमें मुख्य गुण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण होते है किन्तु चेतनता नहीं होती, आत्मामें चेतनता है और स्पर्शादि पुद्गलके गुण नहीं है। जैसा उपादान कारण होता है वैसा कार्य होता है-यदि परमाणुओंमें चैतन्य गुण होता हो उनसे बने हुए स्कन्धमें भी होता। जगतमें असतका जन्म और सतका मरण नहीं होता। मात्र सत्तामें रहे हुए गुणोंमें परिणतियें होती है। पुद्गलमें चैतन्यगुणकी सत्ता नहीं है जैसे घट पट या मृतकमें नहीं दिखलाई पड़ती है किन्तु मेरेमें ज्ञानकी परिणति या उपयोगकी

क्रिया झलक रही है इससे मैं पुद्गलसे भिन्न एक सत् चैतन पदार्थ हूं जिसको आत्मा कहते हैं।

मेरे आत्मामें कर्मोंका बंध है यह बात भी मुझे प्रगट रूपसे झलक रही है कि ज्ञान स्वभाव होता हुआ भी मैं सर्व ज्ञेयोंको जानने योग्य त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंको नहीं जान रहा हूं तथा जैसी आत्मा मेरेमें है वैसी आत्मा अन्य सजीव एकेन्द्री, द्वेंद्री, तेंद्री, चौद्री, पंचेंद्री, गाय, घोडा, हाथी, स्त्री, पुरुष आदिकों में है क्योंकि वहां भी जानपना झलक रहा है परन्तु सब आत्माओंका ज्ञान एकसा नहीं है। कोई मुझसे बहुत ही कम यहां तक कि श्रुतज्ञानके भेदोंमें जितने अविभाग परिच्छेद अक्षर नामा ज्ञान रखके हैं उनसे भी अनंतवें भाग ज्ञान मात्रको ही प्रकट कर रहा है कोई उससे कुछ अधिक अधिक कोई मुझसे भी अधिक जान रहा है। जैसे एक षट् शास्त्रका मर्मी होकर जैन आगमकी तुलना करनेवाला इस तरह आत्मामें ज्ञानकी हीनता अधिकता प्रगट हो रही है जिसका कोई कारण अवश्य चाहिये—और वह कारण ज्ञानावारण दर्शनावरण कर्मकी रजका सम्बन्ध है। जैसे निर्मल दर्पण रजसे आच्छादित हो जावें तो घने ढके हुए कम प्रकाशको करते कम ढके हुए अधिक प्रकाशको देते इस लिये जिस आत्मामें अधिक आवरण व थोड़ासा क्षयोपशम वह कम जानता, जिसमें कम आवरण व अधिक क्षयोपशम वह अधिक जानता है। एक तो इस बातसे कर्मका बंध सिद्ध है। मैं यदि और भी गंभीरतासे विचार करता हूं तो मालूम पड़ता है कि जो क्रोध, मान, माया लोभ, कषायकी कलुषता प्रत्यक्ष झलक

रही है सो मेरा स्वभाव नहीं है क्योंकि ठीक ज्ञान होते हुए भी जब क्रोधादिकी तीव्रता होती है ज्ञान अज्ञान व विपरीत हो जाता है-क्रोधादि कषायोंकी प्रबलतामें विद्या न पढ़ी जाती न समझी जाती न विचारी जाती। बुद्धि सम्यक् विचार करनेसे रहित होकर अंधी होजाती है। यही कारण है जिससे बड़े २ विद्वान् भी क्रोधादिके आवेशमें न कहने योग्य कह उठते न करने योग्य कर बैठते। इसके विरुद्ध जब क्रोधादि कषायोंकी तीव्रता नहीं होती है तब शांति रहती है। उस दशामें ज्ञान अच्छी तरह जानता, समझता है, विचार भी खूब होता है।

इस तरह स्पष्ट प्रगट है कि कषाय आत्माके स्वभाव नहीं है किंतु-वीतरागता या शांति आत्माका स्वभाव है। एक पदार्थमें अनेक स्वभाव रहते हुए एक दूसरेके बाधक नहीं होते परंतु साधक और सहायक होते हैं जैसे आम्रफलमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श परस्पर सहायक हैं जब हरेसे पीत वर्णमें आम उन्नति करता तब गंध भी सुगंधमें, रस भी मिष्टतामें, स्पर्श भी कोमलतामें उन्नत कर जाता है। शांति ज्ञानकी उन्नतिमें और ज्ञान शांतिकी उन्नतिमें परस्पर सहायक हैं इसलिये वीतरागता अवश्य आत्माका स्वभाव है। मोहनीय नामके घातिया कर्मके बंधके कारणसे तथा उसके उदयसे आत्माके विपरीत श्रद्धान व विपरीत चारित्र होता है। जब मिथ्यात्व हटता है तब सम्यक्त गुण प्रगट होता है जिससे यह आत्मा आप और परको ठीक २ निश्चय करता है इसी-तरह ज्यों २ क्रोधादि कषाय मंद होते जाते हैं चारित्र गुण या वीतरागता या शांति प्रगट होने लगती है। किसी भी द्रव्यमें

कोई गुण बाहरसे आकर मिलता नहीं और न उस द्रव्यसे छूट कर अलग होता है। अगुरुलघु नामका जो सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्यमें है वह हरएक द्रव्यको अपनी मर्यादामें रखता है उसे गुणोंमें अधिक या हीन नहीं होने देता। इसी लिये यह निश्चय करना चाहिये कि वीतरागता इस आत्माका स्वभाव है न कि क्रोधादि विकार, पर जब क्रोधादिकी कलुषता हमारेमे मालूम होती है इसीसे निश्चय करना चाहिये कि हमारे मोहनीय कर्मका बंधन है, जिसको जगतमें पुरुषार्थ या साहस कहते है वह भी आत्माका एक वीर्य नामका गुण है। जो पुरुष ज्ञानी होता और मंद कषाई होता है उसमें संकटके सहनेकी अधिक शक्ति होती है, अथवा पापोंसे बचने और धर्मके आचरणका अधिक बल होता है। जिसको आत्मबल कहते है वह अधिक परिमाणमें प्रगट होता है। इसके विरुद्ध जो मूर्ख अज्ञानी और तीव्र कषायी होता है उसमें धैर्य और साहस बहुत कम होता है। वास्तवमें वीर्य नाम गुणको अंतराय कर्मका आवरण है। ज्यों२ ज्ञान वैराग्य बढता आत्मवीर्य अंतराय कर्मके क्षयोपशमसे प्रगट होता रहता है। इसतरह अंतराय कर्मका आवरण सिद्ध है। आत्माका स्वभाव आनंदमई भी है। यह भी अनुभवमें आता है कि जब आत्मामें ज्ञान यथार्थ होता है और कषायोंकी मंदता होकर शांति रहती है तब मनमें क्लेश व आकुलता न होकर एक प्रकारकी निराकुलता या साता रहती है इसीको आत्म-सुख कहते है। अज्ञान और कषाय तथा वीर्यकी हीनतामें यह सुख अनुभवमें नहीं आता। जैसे २ ज्ञान, चारित्र और बल बढते जाते हैं तैसे तैसे सुखका स्वाद आता जाता है। जिस

समय आत्माके गुणोंके घातक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह-नीय और अन्तराय इन चारोंका सर्वथा बंध छूट जाता उस समय पूर्ण और अनन्त आत्म-सुख प्रगट होजाता है। क्योंकि साधारण संसारी प्राणीको यह आत्म सुख अनुभवमें नहीं आता इसीसे कर्मोंके बंधकी बात यथार्थ है।

जैसे इस आत्मामें चार घातिया कर्मोंका बंध है वैसे दूसरे चार अघातिया कर्मोंका बंध भी प्रगट है। अघातिया कर्म बाहरी सामग्री इकट्ठी करा देते हैं। यह बात प्रगट ही है कि संसारी प्राणियोंको इच्छित वस्तु बहुत अंशमें नहीं मिलती है किन्तु चाहते कुछ हैं और मिलती कुछ और वस्तुए है। जब इच्छित वस्तुएं मिलती हैं तब मोहके निमित्तसे साता मानता है और जब विपरीत मिलती है तब असाता मान लेता है।

जगतमें किनहीके पास धन, कण, घर, सेवक, कुटुम्बी आदि साताकारी है उनके साता वेदनीयका उदय है, किन हीके निर्धनता है, रोग है, अशुभ घर व सयोग है उनके असाता वेदनीयका उदय है। कोई मनुष्य, पशु तथा देव आयुमें है जो कि शुभ है-इसमें शुभ आयुका उदय है, कोई नरककी अवस्थामें पड़े हैं उनको अशुभ आयुका उदय है। कोई मनुष्य सुन्दर पौष्टिक शरीरके धर्ता है उनके शुभ नामकर्मका उदय है। कोई कुरूप तथा निर्बल शरीरके धर्ता हैं उनके अशुभ नाम कर्मका उदय है। कोई लोक माननीय कुलमें जन्म प्राप्त है उनके उच्च गोत्रका उदय है, कोई लोक निन्दित कुलमें जन्मते हैं उनके नीच गोत्रका उदय है। इस तरफ शुभ वेदनी,

आयु, नाम, गोत्रकर्मके असरसे शुभ संयोग मिलते जब कि अशुभ वेदनी, आयु, नाम, गोत्रके असरसे अशुभ संयोग प्राप्त होते हैं। इस तरह ज्यों २ विचार किया जायगा आत्माके साथ कर्मका बन्ध और उसके कारण स्वभावका अप्रगटपना तथा दु:ख क्लेशका उठाना प्रत्यक्ष प्रगट है।

इसी लिये आचार्यने कहा है कि इस कर्मके सम्बन्धका अभाव करना चाहिये जिससे अपना निज स्वभाव प्रगट हो। कर्मके अभाव करनेमें आचार्य महाराजने स्वयं अपने ही पुरुषार्थको प्रधानता दी है—जिससे यह सूचित किया है कि मुक्ति कोई देता नहीं किन्तु अपने ही पुरुषार्थसे प्राप्त की जाती है। वह पुरुषार्थ जिससे कर्मबन्ध दूर होते हैं रत्नत्रयमई आत्माकी परिणति है। जब यह भव्य जीव अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूपका श्रद्धान तथा ज्ञान करता और उसी स्वरूपमें ही आचरण करता है तब निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्रकी एकताका लाभ होता है। यही भाव निर्जराका तथा मोक्षका कारण है।

जैन धर्मका यह सिद्धांत है कि यह जीव अपने ही रागादि भावोंके निमित्तसे स्वयं कर्मोंको बांधता है और अपने ही वीतराग भावसे कर्मोंके बंधसे छूट सक्ता है।

कहा भी है—

नयात्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव वा।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योस्ति परमार्थतः ॥७५॥

(समाधिशतक पूज्य०)

भावार्थः—यह आत्मा आप ही अपनेको संसारमें अथवा आप ही अपनेको निर्वाणमें लेजाता है। इसलिये निश्चयसे आत्मा का गुरु आत्मा है, दूसरा कोई नहीं है।

जब यह आत्मा अपने ही आत्माका निर्विकल्प ध्यान करता है तब ही क्षपकश्रेणीमें आरूढ होकर चारित्र मोहका नाश करता हुआ बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानमें पहुंच जाता है वहा कुछ ठहर एकत्त्व वितर्क अविचार शुक्लध्यानके बलसे स्वयं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्मोका नाश करके सयोगकेवली परमात्मा हो जाता है। तब उस अवस्थामें उन्हें सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी आप्त वक्ता या अरहंत कहते हैं। फिर आयु पर्यंत उनके विहार व धर्मोपदेशसे संसारी जीवोंका अज्ञान मिटता है पश्चात् वही अरहंत शेष चार अघातिया कर्मोसे छूटकर सिद्ध परमात्मा हो जाते है। इन्हींको सकल और निकल परमात्मा तथा जिनेंद्र कहते हैं। जिसने चार अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व भाव पर अपने ही भेद ज्ञान द्वारा प्राप्त आत्मविचारके स्वयं मननसे विजय प्राप्त की होती है उसे जिन कहते हैं—उनहीमें मुख्य जो अरहंत व सिद्ध उन्हें जिनेन्द्र कहते हैं।

श्री आचार्य ग्रंथकी आदिमें उस केवलज्ञान स्वरूप परमात्माको नमस्कार करके अपनी हार्दिक भक्ति प्रगट करके मगलाचरण करते है। कार्यकी आदिमें मगलाचरण करनेका मुख्य प्रयोजन अपने भावोंकी विशुद्धता प्राप्त करनी है इसीसे शुद्धात्माके गुणोंमें उपयोगको तन्मय करके भाव नमस्कार और उसी भावकी वचन व कायसे प्रगटता रूप द्रव्य नमस्कार करते हैं। इस विशुद्धताके

प्रभावसे पाप कर्मका रस घट जाता व सुख जाता है। अंतराय कर्म जो कार्यमें विघ्न करनेवाला है पाप कर्म है। सो पापकर्म कम होनेसे प्रारम्भ किये हुए कार्यमें विघ्न नहीं होते और वह कार्य्य निर्विघ्न समाप्त हो जाता है।

दोहा–स्वयं कर्म सब नाश कर, प्रगटायो निजभाव।
परमातम सर्वज्ञको, वंदूं कर शुभ भाव॥ १॥

उत्थानिका–आगे अपने गुरुके ऊपर कहे हुए वचनोंको सुनकर शिष्य प्रश्न करता है कि अपने ही द्वारा अपने ही आत्म-स्वरूप की अर्थात् सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, वीर्य्य, सुक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु तथा अव्याबाध इन आठ मुख्य गुणोंकी प्रगटता रूप सिद्ध पदकी प्राप्ति किस उपायसे हो जायगी? तब आचार्य इस प्रश्नका समाधान करते हैं–

श्लोक–**योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।**
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता॥ २

सामान्यार्थ–जैसे खानसे निकला हुआ सुवर्ण–पाषाण सुवर्णरूप परिणाममें कारण योग्य उपादान कारणके होनेपर सुवर्णपनेको प्राप्त होकर सुवर्ण माना जाता है वैसे सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल और सुभाव रूप सामग्रीके प्राप्त होनेपर अशुद्ध आत्माके भी आत्मता प्राप्त होकर आत्मा परमात्मा कहा जाता है।

विशेषार्थः–(योग्योपादानयोगेन) सुवर्णकी दशामें करने लायक कारणोंके मिलनेसे (दृषदः) सुवर्णके प्रगट होनेकी योग्यताको रखनेवाले खानसे निकले हुए सुवर्ण पाषाणके (स्वर्णता) सुवर्णपना होजाना (मता) लोगोंसे माना गया है तैसे (द्रव्यादि

स्वादि संपत्ती) प्रशंसनीक, सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल और सुभाव रूप अथवा प्रारम्भ किये हुए कार्यमें साधकरूप अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावरूप सामग्रीकी प्राप्ति हो जाने पर या स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी संपूर्णता होजाने पर (आत्मनः अपि) इस ससारी आत्माके भी (आत्मता) आत्मपना अर्थात् जीवके निज भाव निर्मल निश्चल चैतन्यभावकी प्रगटता (मता) कही गई है।

भावार्थ–कनक पाषाण जो खानसे निकलता है वह दो तरहका होता है–एक ऐसा जो तपाए गलाए साफ किये जानेपर सुवर्ण रूप हो सक्ता है। दूसरा वह जो सुवर्ण रूप नहीं हो सक्ता जिसको अंध पाषाण कहते हैं–दृष्टांत यह है कि जैसे सुवर्णपनेकी प्रगटताकी योग्यता रखनेवाला सुवर्ण पाषाण जब अग्नि मसाले आदिका योग्य सम्बन्ध पाता है जिसे निमित्त कारण हैं तब उपादान कारणसे अपने भीतर रही हुई सुवर्णताको समय २ प्रगट करता जाता है। इस तरह करते करते जब सोलह ताव लगने रूप अग्निका निमित्त बनता है तब उपादान कारण शुद्ध होते होते शुद्धताको पूर्णताको पहुंच जाता है तब वह सुवर्ण शुद्ध सुवर्णपनेमें पलट जाता है और तब उसे कुन्दन या शुद्ध सोना कहते हैं ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है। वैसे आचार्य दृष्टान्तनें कहते हैं कि संसारी जीव दो प्रकारके हैं–एक अभव्य दूसरे भव्य अभव्य जीव अंध पाषाणके समान हैं जब कि भव्य जीव कनक पाषाणके समान है। जब भव्य जीवको समर्थ निमित्त कारण मिलते हे तब उसको उपादान शक्ति प्रगट होने लगती है। शक्ति

प्रगटनेका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे है। जो भव्य जीव सैनी पंचेन्द्रिय बुद्धिमान् होता है उसे जब गुरुका उपदेश प्राप्त होता है और उसका चित्त उसे विचार करता है तब योग्य निमित्तोंके होते हुए भेद विज्ञानके बलसे भव्य जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होजाती है। अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल और भावका मिलना तो सुचतुष्टय है और अपने आत्माके उपयोगका व आत्माके प्रदेशोंका कर्म कलंकसे निर्मल होना सो स्वद्रव्यादि है, क्योंकि जबतक अतरंगमें दर्शनमोह और अनतानुबंधी कषायोंका उपशम नहीं होता और आत्माको विशिष्ट ज्ञान श्रद्धान और वीर्यकी प्राप्ति नहीं होती तबतक सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं होता है। सम्यक्त हो चुकनेपर सम्यग्चारित्रकी वृद्धिके लिये भव्य जीवको स्वयं उद्यम करना पडता है। श्रावक अवस्थामें बारह व्रतोंको साधनरूप व्यवहार चारित्रका निमित्त ज्यों ज्यों मिलता है त्यों त्यों आत्मामें सम्यग्चारित्रकी प्रगटता अधिक अधिक होती जाती है-पूर्ण सम्यग्चारित्रके लिये साधुके तेरह प्रकार या अठाइस प्रकार मूलगुण रूप चारित्रका व्यवहार निमित्त होता है अर्थात् जब वह साधु नग्नरूपमें रहता हुआ परिग्रहका त्यागी होता है और प्रमादोंको त्याग निस्पृह हो व्यवहार चारित्ररूप निमित्तके बलसे आत्माध्यान करता है त्यो २ उसकी आत्मशक्ति प्रगट होती जाती है। इसी तरह जब वज्र वृषभनाराच शरीररूप सुद्रव्य, कर्मभूमिका आर्यखडरूप सुक्षेत्र, अवसर्पणी उत्सर्पिणीका तृतीय चतुर्थकालरूप सुद्रव्य और अपना उत्साहरूप सुभावका निमित्त बनता है तब स्वद्रव्य आत्मद्रव्य, स्वक्षेत्र, आत्माके प्रदेश, स्वभाव आत्माके गुण और स्वकाल

निज गुणोंकी स्वभाव परिणति इस तरह स्वद्रव्यादि व सुद्रव्यादि चतुष्टयका लाभ होता है तब शुक्लध्यानके बलसे घातिया कर्मोंका नाश करके वह भव्य जीव केवली परमात्मा अर्हंत हो जाता है फिर आयुके अंतमें सिद्ध शुद्ध परमात्मा हो जाता है। तात्पर्य्य कहनेका यह है कि जैसे कनक पाषाणमें कनक होनेकी स्वयं उपादान शक्ति है वैसे इस संसारी भव्यजीवमें परमात्मा होनेकी स्वयं उपादान शक्ति है। जैसे बाहरी साधनोंकि मिलने पर वह कनक पाषाण स्वयं कीटसे भिन्न हो शुद्ध हो जाता है वैसे यह आत्मा भी समर्थ निमित्तोंके मिलने पर स्वय यदि अपनी उपादान शक्तिको व्यक्त करनेका पुरुषार्थ करता अर्थात् ध्यानका अभ्यास करता है तो स्वयं शुद्ध हो जाता है। जैसे कोई भी बलात्कार विना प्रयोगके कनक पाषाणको पाषाण नहीं कर सक्ता वैसे विना समर्थ कारण व अपने ही उपादान कारणके कोई अन्य संसारी आत्माको परमात्मा नहीं कर सक्ता।

प्रयोजन यह है कि यह आत्मा अपने सुधार व विगाडका आप ही जिम्मेवार है। इसमे जो मुमुक्षु जीव आत्माकी शुद्धि चाहने हे उन्हें स्वयं पुरुपार्थ करना चाहिये।

दोहा—स्वर्ण पाषाण सुहेतुसे, स्वयं कनक हो जाय।
सुद्रव्यादि चारों मिले, आप शुद्धता थाय ॥२॥

उत्थानिका—इस बातको गुरुके मुखसे सुनकर शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे, भगवन्! यदि सुद्रव्य सुक्षेत्र सुकाल सुभाव रूप सामग्रीके होनेपर ही यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको प्राप्त कर लेगा तो फिर अहिंसादि व्रत और ईर्या

समिति आदिकोंका पालना निरर्थक हो जावेगा क्योंकि जो इच्छित अपने आत्माकी प्राप्ति है सो सुद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा रखती है । जब वे सुद्रव्यादि होंगे तब आत्म लाभ हो जायगा अर्थात् जबतक वज्रऋषभनाराचादि संहनन न हों जिसके विना कोई मुक्ति नहीं पासक्ता तबतक कोई व्रतादिका पालन निरर्थक है । इस शंकाको सुनकर आचार्य महाराज कहते हैं हे वत्स, जो तूने व्रतादिको बेमतलब बताया है सो वे व्यर्थ नहीं है किन्तु सार्थक हैं । व्रतादिकोंके पालनसे नवीन अशुभ कर्मोंका निरोध होता है । पाप कर्मोंका आस्रव नहीं होता है तथा जो पहले बाधे हुए पाप कर्म सत्तामें होते हैं उनका एक देश अर्थात् थोडा नाश होजाता है और व्रतोंमें राग रूप शुभोपयोगके बलसे नवीन पुण्य कर्मका बंध होता है जिससे स्वर्ग आदिके शुभ पद प्राप्त होते ही है इससे व्रतोंका पालन सफल है निष्फल नहीं । इसी बातको आगे प्रगट करते हुए आचार्य कहते हैं—

श्लोक–वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकं ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

सामान्यार्थ–व्रतोंके पालनेसे देवपद होता है इससे उन्हें पालना ठीक है परंतु अव्रतोंसे अर्थात् हिंसादि पापोंसे नरक पद होता है यह खेदकी बात है इस लिये अव्रतोंमें पडना नहीं अच्छा । जैसे किसीकी राह देखनेवाले दो मनुष्योंके क्रमसे छायामें ठहरनेवाले और धूपमें खडे होनेवालेके जैसा बडा भेद

विशेषार्थः-(व्रतैः) महाव्रत अथवा अणुव्रतरूप पांच व्रतोंसे अर्थात् पांच व्रतोंमें शुभ रागके द्वारा जो पुण्य बांधा जाता है उससे (दैवं पदं) स्वर्गादिमें देव सम्बन्धी ऐश्वर्यपूर्ण पद प्राप्त होता है-यह बात सब जनोंमें अच्छी तरह प्रसिद्ध है इसलिये (वरं) पांच व्रतोंका पालना अच्छा है अथवा देव पदका होना अच्छा है। तब क्या अव्रत भी ऐसे ही होंगे? इस शंकापर कहते हैं कि (अव्रतैः) हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापोंसे अर्थात् इन पापोंमें अशुभ परिणाम होनेसे जो पाप बांध लिया जाता है उससे (वत) बड़े खेद वा कष्टकी बात है कि (नारकं) नारकीका पद प्राप्त होता है (न वरं) जो कि ठीक नहीं है अथवा इसलिये अव्रतोंका आचरण ठीक नहीं है। तब शिष्य शङ्का करता है कि व्रतोंसे देव पद अव्रतोंसे नरकपद होता है तब दोनोंमें समानता होगी! इस शंका पर आचार्य कहते हैं, कि नहीं उन दोनोंमें महान अंतर है जिसको दृष्टांत देकर समझाते हैं कि जैसे (प्रतिपालयतोः) अपने किसी कार्यके वशसे दूसरे नगर या ग्राममें गए हुए किसी तीसरे अपने साथीकी उस नगरसे लौटने हुए रास्तेमें उससे मिलनेकी इच्छासे राह देखनेवाले (छाया-तपस्थयो) दो मनुष्योंमें जो क्रमसे छायामें और धूपमें खड़े हुए हैं (महान् भेद) बड़ा भेद है। वैसे व्रती और अव्रतीमें अन्तर है। यहां यह भाव है कि जैसे छायामें ठहरा हुआ मनुष्य जब तक उसका साथी न आवे तब तक सुखसे बैठा है या खड़ा है उसे कोई धूपकी बाधा नहीं है वैसे जबतक मुक्ति प्राप्तिके समर्थ कारण सुद्रव्यादि चतुष्टय न प्राप्त हों तबतक व्रतादिको पालनेवाला

स्वर्ग आदिके साताकारी पदोंमें सुखसे रहता है इसीतरह जो धूपमें खडा हुआ राह देख रहा है वह उस साथीके आने तक बड़े दु:खमें बाधा सह रहा है वैसे ही जो पापोंको आचरण करके नरक आदि पदोंमें जाता है वह मुक्ति योग्य सामग्री प्राप्त होने तक दु:खमें अपना काल गमा रहा है।

भावार्थ–यहां पर आचार्यने व्यवहार चारित्रकी उपयोगिता बताई है। तथा शुभोपयोग और अशुभोपयोगका फल बता कर, जबतक शुद्धोपयोग न हो तबतक शुभोपयोगमें रहने और अशुभोपयोगसे बचनेकी दिक्षा दी है। यद्यपि स्वानुभव अपने शुद्ध स्वरूपका करते हुए शुद्धोपयोगकी झलक होती है परंतु नीचली अवस्थामें अर्थात् सम्यग्दृष्टी या व्रती गृहस्थके बहुत कम समयके लिये यह झलक रहती है क्योंकि शक्तिका अभाव है। तब उसको उस दशासे छूटकर अशुभोपयोगमें न जाकर शुभोपयोगमें रहना चाहिये और शुद्धोपयोगकी राह देखना चाहिये, कि कब शुद्धोपयोग आवे। जो अशुभोपयोगमें वर्तेगा वह अब भी क्लेशित होगा व परलोकमें नरकगतिमें जाकर अचिन्त्य दु:खोंको भोगेगा। और जो शुभोपयोगमें वर्तेगा उसको मंद कषायके कारण यहां भी साता है और भविष्यमें वह शुभ भावोंसे देवगतिको बांधकर स्वर्गमें जा साताकारी मनोज्ञ सम्बन्धोंको प्राप्त कर लेगा जहां शारीरिक क्षुधा, तृषा, रोग, जरा आदिका कष्ट तो बिलकुल है नहीं–जो कुछ है सो मानसिक है–इस लिये नरकवाससे स्वर्गवास बहुत अच्छा है। मोक्ष–प्राप्तिके योग्य जो वज्रवृषभनाराचसंहननरूप द्रव्यशरीर कर्मभूमिका मोक्षयोग्य

क्षेत्र तथा काल और मोक्ष-प्राप्तिकी तीव्र उत्कंठा रूपी वैराग्यभाव इन चार सुद्रव्यादि सामग्रीका पाना भी पुण्यके बलसे व पापोंके क्षयसे होगा। इसलिये भी जबतक सुद्रव्यादि न मिलें तबतक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग इन पांच व्रतोंको सर्व देश या एक देश पालते रहना चाहिये, परन्तु भावना शुद्धभावकी तरफ रखनी चाहिये। और हिंसादि पांच पापोंसे यथासंभव बचना चाहिये।

यदि कोई मोक्षका इच्छुक भव्य जीव भी हो परन्तु निरर्गल होकर पापोंमें प्रवृत्त हो तो वह नरकधरामें जाकर दुःख उठावेगा और जबतक मोक्षकी इच्छाकी सिद्धि योग्य द्रव्यक्षेत्रादिका अवसर न पावेगा कष्टोंको ही सहेगा, परन्तु दूसरा भव्यजीव जो मोक्षका अभिलाषी है और जबतक सुद्रव्यादिका अवसर नहीं पावे शुभोपयोगमें वर्ते, अणुव्रत या महाव्रत पाले तो देवगतिमें जाकर साता पावेगा व मनुष्य भी होगा तो साताकारी सम्बधोंमें पैदा होगा। इसी बातको दिखानेके लिये आचार्यने दृष्टांत दिया है कि किसी परग्राममें गए हुए अपने साथीको लौटने हुए मार्गमें मिलनेकी इच्छासे दो आदमी खड़े हैं। एक तो धूपमें, दूसरा छायामें-एक धूपमें खडा खड़ा आतापका कष्ट सह रहा है। दूसरा छायामें सुखसे है। जबतक साथी न आवे एक तो दुःखमें दूसरा सुखमें काल बिता रहा है। इसी तरह जब तक मोक्ष योग्य सामग्रीका लाभ न हो, व्रती जीव स्वर्गादिमें सुखसे तथा अव्रती नरक तिर्यंचादि गतियोंमें दुःखसे काल बिताता है।

यद्यपि राह देखनेकी अपेक्षा दोनों ही पुरुष चिंतामें हैं इस लिये दोनों ही दुःखी हैं तथापि शारीरिक कष्टकी वेदनाकी अपेक्षा धूपमें खड़े होनेवाला दुःखी व छायावाला सुखी है, उसी तरह यद्यपि मानसिक शांतिको न पाते हुए उसकी चिंताके कारण नारकी व देव दोनों दुःखी हैं तथापि शारीरिक कष्टकी वेदना नारकियोंको है इससे महादुःखी हैं, सो वेदना देवोंके नहीं हैं इस अपेक्षा वे नारकियोंसे सुखी है। जबतक मोक्ष न हो तब तक वृथा नरक-वेदना न सहना पड़े और यह आत्मा देवगति सरीखे शुभ संयोगोंमें रहे सो ही श्रेष्ठ है, क्योंकि देवोंमें समवशरणादि व अकृत्रिम चैत्यालयादि व मुनीश्वरोंके पास जाकर धर्मलाभ उठानेकी भी शक्ति है। शुद्धोपयोगियोंकी भक्ति करनेकी भी सामर्थ्य है परन्तु नारकियोंमें अपने क्षेत्रसे बाहर जानेकी हो शक्ति नहीं है, इसीसे नरकगतिके कारण अशुभोपयोग रूप हिंसादि पाच पाप त्यागने योग्य हैं और देवगतिके कारण अहिंसादि पाच व्रत पालने योग्य है। आचार्यने दयालु होकर शिष्यको यह शिक्षा प्रदान की है जिससे वह शीघ्र ही सुद्रव्यादिको पाकर मोक्षका अधिकारी हो जावे और उसे दुर्गतिके कष्ट भी न भोगने पड़ें। भाव यह है कि मनुष्योंको उद्यम करके पापोंसे बचना चाहिये और व्रतोंमें अपना मन, वचन, काय रखना चाहिये। कीचड़में व मैलेमें पड़े रहनेकी अपेक्षा साफ सुन्दर जगहमें ही ठहरना अच्छा है। ३॥

दोहा—मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक धूप।
व्रत पालनसे देवपद, अव्रत दुर्गतिरूप ॥३॥

उत्थानिका—अब शिष्य फिर शंका करता है कि हे भगवन्! जिसको मोक्षका सुख बहुत देरमें होनेवाला है और व्रतोंके पालनेसे संसार सुख जल्दी सिद्ध हो सक्ता है तो उस मनुष्यके अपने आत्मामें भक्ति, विशुद्ध भाव, अतरंग आत्म प्रेम नहीं होगा, क्योंकि उस आत्मानुरागसे मोक्षसुखकी सिद्धि होती है सो मोक्षसुख अभी बहुत दूरवर्ती है क्योंकि उसकी सिद्धिके योग्य सुद्रव्यादिकी प्राप्तिकी अपेक्षा होती है सो अब है नहीं और मध्यमें मिलनेवाला स्वर्गादिका सुख मात्र व्रतोंके पालनेसे ही सिद्ध हो जाता है।

भावार्थ—इस लिये आत्मप्रेमकी कोई आवश्यक्ता नहीं है। व्रतोंको ही पालना चाहिये जिससे स्वर्गादि सुख मिले, जब सुद्रव्यादि होंगे तब आत्मप्रेम करके मोक्ष सुख प्राप्त करेंगे। इस प्रश्नसे शिष्यने आत्मानुभव व आत्मध्यान, व आत्मानुराग व सम्यक्तभाव जो मुख्य धर्मका मूल है उसकी वर्तमानमें अनुपयोगता बताई है—इसका भी आचार्य समाधान करते हैं, कि हे शिष्य! व्रतादिकका पालना निरर्थक नहीं है अर्थात् सार्थक है। केवल यही नहीं है किन्तु जो तूने कहा कि आत्मामें भक्तिकी अभी कोई उपयोगिता नहीं है सो बात भी ठीक नहीं है। इसीका खुलासा आगे हैं—

श्लोक—यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्द्धे, किं स सीदति ॥४॥

सामान्यार्थ—जिस आत्मामें भाव लगानेसे वह भाव

मोक्षको देता है तो उस भावसे स्वर्गका मिलना कितनी दूर है। जैसे जो कोई किसी भारको शीघ्र ही दो कोश लेजाता है वह क्या आध कोस लेजानेमें दुःखी होगा अर्थात् नहीं।

विशेषार्थ-(यत्र) जिस शुद्ध आत्माके गुणोंमें (भाव.) भाव जोड़ना व उपयोग लगाना (शिवं) भव्य जीवको मोक्ष (दत्ते) देता है-तो उस आत्मभावसे जिसमें मोक्ष प्रदानकी सामर्थ्य है (द्यौः) स्वर्ग (कियत् दूरवर्तिनी) कितनी दूर है अर्थात् निकट ही है। अपने आत्माके ध्यान करनेसे जो पुण्यकी प्राप्ति होती है उसीका फल स्वर्ग प्राप्त करना है। जैसा कि श्री **तत्त्वानुशासन** ग्रन्थमें कहा भी है —

"गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितः।
अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति॥
ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये॥
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये"॥

भावार्थ-जो योगी गुरुके उपदेशको पाकर भले प्रकार आत्माका ध्यान करते हैं उनको अपनी अनंत शक्तिशाली आत्माके द्वारा मोक्षसुख व भोगोंके सुख दोनों प्राप्त हो सक्ते हैं। जो तद्भव मोक्षगामी हैं वे जब अपनी आत्माको अर्हत या सिद्धरूपसे ध्याते हैं तो मुक्ति प्राप्त करते हैं परन्तु जो उसी भवसे मोक्ष जानेवाले नहीं हैं उनको उस आत्मध्यानसे जो पुण्यबंध होता है उससे स्वर्गादिके भोग उपलब्ध होते हैं।

इसी ही बातको दृष्टांत देकर समर्थन करते हैं-(य) जो कोई मजदूर भारको (गव्यूतिं) दो कोस तक (आशु) शीघ्र (नयति)

ले जा सक्ता है (सः) वह (किं) क्या अपने भारको (क्रोशार्द्ध) आध कोस लेजानेमें (सीदति) खेद प्राप्त करेगा। अर्थात् वह खेदित न होगा। क्योंकि बड़ी सामर्थ्य-वालेके थोड़ी शक्तिका काम सहजमें घट सक्ता है।

भावार्थ–इस श्लोकमें आचार्यने बताया है कि केवल व्रतोंका पालन ही शुभोपयोग नहीं है किन्तु परमात्मा अथवा आत्माके गुणोंमें जो अनुराग व भक्ति है अथवा आत्माके शुद्ध गुणोंकी भावना है अथवा आत्माका ध्यान है वह भी जितने अंशमें शुभोपयोग रूप है उतने अंशमें पुण्यबंधका करनेवाला है। जहां तक कषायोंका उदय है वहां तक उपयोग बिलकुल शुद्ध नहीं होता और वहां तक इस संसारी आत्माके कर्मबंध और सांपरायिक आस्रव हुआ करता है। जहां कषाय नहीं रहती ऐसे ११ वें, १२वें, १३वें, गुणस्थानोंमें यद्यपि योगोंके होनेसे सातावेदनीय कर्मका ईर्यापथ आस्रव होता है परन्तु कषायके न होनेसे उनमें जघन्य जो अंतर्मुहूर्त्तकी स्थिति पड़नी चाहिये सो भी नहीं पड़ती है। बिलकुल आस्रव और बंधका अभाव १४ वें, अयोग गुणस्थानमें होता और कर्मोंकी सत्ताका सर्वथा वियोग होकर जब सिद्धपना प्राप्त होता तब पूर्ण शुद्धता आत्माके प्रदेशोंमें होती है। आत्मध्यानका अभ्यास चौथे गुणस्थानसे शुरू हो जाता है। वहांसे लेकर १०वें सूक्ष्म लोभ गुणस्थान तक द्विधारारूप उपयोग रहता है न पूर्ण शुद्धोपयोग है न पूर्ण शुभोपयोग है। वीतरागता और सरागता दोनोंका मिश्रभाव है।

जहांतक सरागता होगी बंध अवश्य होगा । देव आयुका बंध सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक होता है जहापर बाहर देखने वालेको व ध्याताके अनुभवमें भी बिलकुल निर्विकल्पता झलकती है मानो आत्माके स्वरूपमें लौलीन है परंतु वहा भी संज्वलन कषायका इतना वेग नहीं घट जाता तो देव आयु रूपी कैदमें जानेकी स्थिति न बाध सके । इसी देव आयुका बध मिथ्यादृष्टी पहले गुणस्थान वालेके भी मदकषायसे होता जिससे एक जैन साधु वेषके सिवाय अजैन साधु भी देवायु बाध १२ वें स्वर्ग तक जाकर देव हो सक्ता है उसके पंच पापोंसे विरक्ति हो सक्ती है परन्तु आत्मामें भक्ति नहीं है क्योंकि उसने आत्माका स्वभाव जो अनंत गुणात्मक है और अनेक विरोधी स्वभावोंको भी अपेक्षाके भेदसे लिये हुए है; जिनका ज्ञान स्याद्वादके सिद्धातके समझे विना नहीं हो सक्ता ? उसको नहीं जाना है, नहीं श्रद्धानमें लिया है और इसीलिये यथार्थ आत्माका अनुभव व ध्यान नहीं प्राप्त किया है । जैन साधु भी जो बाहरमें पाच महाव्रतोंको यथार्थ पालते हैं सम्यग्दर्शनके अभावमें आत्मभक्ति न पाते हुए भी अति मंद कषायसे नवें ग्रैवयक पर्यंत जाने तककी देवायु बांध लेते हैं । यहां पर यह भी समझ लेना चाहिये कि जिनके भीतर यथार्थ आत्माकी भक्ति होती है वे सिवाय कल्पवासी देवके दूसरे देव नहीं होते सो भी वहा उच्च जातिके अतिशय पूर्ण होते हैं । अभियोग्य, किल्विष, अनीक आदि जातिके देव नहीं पैदा होते हैं, परन्तु जिनके आत्मभक्ति नहीं है जो आत्मामें रुचि नहीं प्राप्त करते वे मिथ्याती होते हुए व्रतादिमें रुचि होनेसे

अर्थात् जीवदया पालने, सत्य बोलने, चोरी न करने, शील पालने व तृष्णाके घटानेसे जो शुभोपयोग रखते उसके बलसे देव आयु बांध लेते पर वे भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देव होते जिनमें आत्मज्ञानी कभी नहीं उपजता अथवा यदि बहुत वैराग्य हुआ तो अन्य भेषी १२ वें स्वर्ग तक और जैन भेषी नौमें ग्रैवयक तक जाता है परन्तु आत्मज्ञानी मात्र कल्पवासी देव आयुको ही बांधता है और सर्वार्थसिद्धि तक जासक्ता है जहांसे आकर तद्-भव मोक्षगामी हो जाता है।

मुक्ति योग्य वज्रवृषभनाराच संहननादि होते हुए भी जिस ध्यानसे मोक्ष होती है वह क्षपक श्रेणीका ध्यान तथा १२वें गुणस्थानमें एकत्त्ववितर्कअवीचार नामका द्वितीय शुक्लध्यान है-जबतक ऐसा सुद्रव्यादि चतुष्टय न मिले तबतक जैसे अहिंसा व्रतादि सम्बन्धी शुभोपयोग स्वर्गादि पदोंमें रखता है वैसे आत्मध्यानमें गर्भित जो शुभोपयोग है वह भी स्वर्गादि पदोंमें रखता है इस लिये यहां आचार्यने कहा है, कि जो मनुष्य दो कोश तक बोझा ढो ले जाता है उसके लिये आधकोश लेजाना क्या कठिन है? इसी तरह जो आत्मध्यान मोक्ष देता है उससे देव आदि उत्तम पद पाना क्या कठिन है? अर्थात् सहज ही है-इस लिये जो शिष्य यह समझता था कि जबतक सुद्रव्यादि न मिलें तबतक मोक्षके कारण आत्मध्यानके करनेकी जरूरत नहीं है, उसको आचार्य समझाते हैं कि आत्मप्रेम व आत्मध्यान सदा करते रहना चाहिये इससे ऐसे उत्तम पदोंमें पहुच सक्ते हो जो आत्मानुभव रहित केवल व्रतादि पालनसे नहीं प्राप्त हो सक्ते हैं। इस कथनसे

आत्मध्यानकी महिमा बताई है और शिष्यको मोक्षके परंपरा कारणमें उपयुक्त किया है, क्योंकि आत्मध्यान विना मात्र व्रत पालन मोक्षका हेतु परम्परासे होगा इसका कोई नियम नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस तरह बने आत्मानुभवकी प्राप्ति ही भव्य जीवके लिये श्रेय है।

दोहा–आतमभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर।
दोय कोश जो ले चले–आध कोश सुखपूर ॥ ४ ॥

उत्थानिका–आगे शिष्य गुरुको प्रश्न करता है कि ठीक है यदि आत्माकी भक्ति करनेसे स्वर्गकी गति भी प्राप्त होती है ऐसा समर्थन आपने किया है तो यह कहिये कि स्वर्गमें जानेवालोंके लिये क्या फल होगा। इसी बातका समाधान आचार्य स्पष्ट रीतिसे करते हैं–

श्लोक–हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

सामान्यार्थ–स्वर्गमें देवोंका सुख इन्द्रियोंसे होनेवाला, रोग रहित, तथा दीर्घ कालतक रहनेवाला स्वर्गमें उत्पन्न देवोंके जैसा ही है।

विशेषार्थ–(नाके) स्वर्गमें न कि क्रीडा आदिके वशसे गए हुए मध्यलोकके रमणीक पर्वत आदिमें (नाकौकसां) देवोंको न कि स्वर्गमें ही पैदा होते एकेन्द्रियोंको (सौख्यं) जो सुख है वह (हृषीकजम्) इंद्रियजन्य है अर्थात् अपने २ विषयको भोगनेवाली स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियोंके द्वारा सर्व अंगमें आल्हाद होनेसे प्रगट होनेवाला है। अतीन्द्रिय आत्मजन्य नहीं है, (अनातंक)

रोग रहित है अर्थात् जहां चेतन व अचेतन द्वारा उत्पन्न पीड़ासे जो चित्तमें क्षोभ या आकुलता होती है सो नहीं है। जैसे इस ढाईद्वीपमें राज्य आदिका सुख होता है वैसा नहीं है जिसमें शत्रु आदि द्वारा विघ्न आ जाते हैं, (दीर्घकालोपलालितम्) तथा दीर्घकाल सागरों पर्यंत भोगा जानेवाला अर्थात् अपनी नियोगिनी देव देवियों द्वारा जो अपनी आज्ञामें रहती हैं की गई हैं अनेक प्रकार सेवा जहां इसलिये महत्वको प्राप्त है। भोगभूमियोंके सुखकी तरह थोड़े काल अर्थात् तीन पल्य मात्र तक रहनेवाला नहीं है (नाके नाकौकसाम् इव) और स्वर्गमें देवोंको जैसा अनुपम सुख होता है वैसा है, वहाके समान सुख दूसरी जगह नहीं है।

भावार्थः—यहापर आचार्यने यह बतलाया है कि आत्म भक्तिमें शुभोपयोगके फलसे देवायु बांधकर जो जीव स्वर्गोंमें जाकर देव उत्पन्न होता है उसको किस जातिका सुख होता है ? आचार्य महाराज कहते है कि वह सुख स्वाधीन आत्मा हीसे पैदा होनेवाला नहीं है किन्तु पराधीन है। इन्द्रियोंके द्वारा जब भोग किया जाता है तब जो सर्व अंगमें एक तरहका आल्हाद होता है उससे प्रगट होता है। एक इन्द्रियसे भोग जब होता तब दूसरी इन्द्रियसे भोग नहीं होसक्ता इसलिये आकुलता मई है। एकको भोगते हुए दूसरेके भोगकी तृष्णा चित्तमें क्षोभ पैदा करती है। तृप्तिकारी भी नहीं है, सागरों पर्यंत भोगते हुए भी इन्द्रियोंकी चाह नहीं मिटती है, परन्तु बढती ही जाती है—इस कारणसे यह सुख सच्चा निराकुल सुख नहीं है किन्तु आकुलता रूप है और रागभावकी

तीव्रता होनेसे बंधका भी कारण है जैसा कि स्वामी कुदकुंदाचार्यने श्री प्रवचनसारजीमें कहा है-

गाथा-सपरं बाधासहिदं विच्छिन्नं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहि लद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा॥

अर्थ-जो इन्द्रियोंसे सुख होता है वह पराधीन है, बाधा सहित है, नाश होनेवाला है, बंधका कारण है और विसम है अर्थात समता रूप नहीं है इसलिये वह सुख दु ख रूप ही है इसके विरुद्ध जो अतीन्द्रिय सुख है वह स्वाधीन है, बाधारहित है, अपने पास सदा रहनेवाला है, बंधका नाशक है और सम परिणामरूप है। अतीन्द्रिय सुख यहा भी आत्माको बलवान रखता, शरीरको बलिष्ट रखता और कर्मोंकी निर्जरा करके परलोकमें योग्य, सार पद प्रदान करता है। खेद है कि देवोंको स्वर्गोंमें ऐसा सुख नहीं है किन्तु इंद्रियजन्य है। आचार्य खुलासा करते हैं कि इंद्रियजन्य होने पर भी उस सुखमें मध्यलोकके सुखसे विलक्षणताएं है-एक भेद तो यह है कि जैसे राजा महाराजोंको कर्मभूमिमें जो इंद्रिय सुख होते हुए शरीरमें रोग हो जाते है व क्षुधा, तृषा, शर्दी, गर्मी, सताती है सो देवोंमें नहीं है-वहां शरीर वैक्रियिक बिलकुल रोग व पीड़ासे रहित है-मात्र इतना है कि जितने सागरकी आयु होती है उतने हजार वर्ष पीछे भुखकी इच्छा होती है उसी समय उनके कंठसे ऐसा कोई अमृत उनके उदरमें झड जाता है जिससे बाहरसे विना कुछ खाए हुए ही उनकी वुभुक्षा मिट जाती है। वहां कभी शरीरमें मल, मूत्र, थूक, नाक, पीप नहीं होता

और जैसे यहां शत्रु राज्य लूटलेते व चोर चोरी करलेते व प्राण घात कर देते वैसे स्वर्गोंमें कोई भी शत्रु नहीं होता है कि कोई उनकी भोग सामग्रीको हर लेवे और न वहां कोई प्राणोंका घात करता है क्योंकि वहां अकाल मृत्यु नहीं होती, अपनी आयुके समयोंको पूरा किया करते हैं इसलिये कर्मभूमिके इंद्रिय सुखसे देवोंका सुख बढ़िया है। इतना ही नहीं भोगभूमिमें यद्यपि कल्प वृक्षोंसे इच्छित पदार्थ मिलनेसे सुख होता है परंतु वह बहुत थोडे काल अर्थात् अधिकसे अधिक तीन पल्य मात्र, रहता है किन्तु देवोंका सुख स्वर्गमें सागरों पर्यंत रहता है इसलिये भोगभूमिके सुखसे भी बढ़िया है। आचार्य कहते हैं कि उसकी उपमा हम कर्म भूमिवालोंको दे नहीं सक्ते। यद्यपि वह सुख इंद्रियजन्य पराधीन है तथापि स्वर्गका सुख स्वर्गवासी देवोंको जैसा हो सक्ता है वैसा ही है। वहां पर कोई द्विइंद्रिय आदि विकलत्रयकी बाधा नहीं है। ऐसा बढिया सुख स्वर्गोंमें देवोंको ही, है वहां जो पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय पैदा होते हैं उनके नहीं है। देवोंको स्वर्ग सुखका अनुभव स्वर्ग भूमिमें जैसा होता वैसा अन्य स्थानमें उन्हें नहीं मिलता इस प्रकार आचार्यने स्वर्गके सुखकी निन्दा या प्रशंसा जैसा कुछ उसका हाल है वैसा वर्णन किया है। मोक्ष सुखकी तरह न वह अविनाशी है और न वह स्वाधीन है तो भी विशेष पुण्यका फल होनेसे कर्मभूमि और भोगभूमिके सुखोंसे महत्पनेको प्राप्त है—

दोहा—इन्द्रियजन्य निरोगमय—दीर्घ कालतक भोग्य।
स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनहीके योग्य ॥ ५ ॥

उत्थानिका—अब शिष्य फिर पूर्व पक्ष करता है कि हे भगवान्! यदि मोक्षके सिवाय स्वर्गमें भी मनुष्यलोकके सुखसे अतिशय रूप उत्कृष्ट सुख है तब मोक्षकी इच्छा या प्रार्थनासे क्या लाभ? मेरेको मोक्ष हो यह इच्छा व्यर्थ है। इस तरह संसारके सुखोंमें ही हठ रखनेवाले शिष्यको सांसारिक सुखदुःखकी भ्रांतिपनेको प्रकाश करते हुए आचार्य समाधान करते हैं—

श्लोक—वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

सामान्यार्थ—संसारी प्राणियोंको यह दुःख सुख वासना मात्र ही होते हैं। तैसे ही ये इंद्रियोंके भोग आपत्तिकालमें रोगके समान घबडाहट पैदा कर देते हैं।

विशेषार्थ—(देहिना) देहमें ही आत्मापनेकी बुद्धि जिनके होती है ऐसे बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीवोंको (एतत सुख दुःख च) यह अनुभवमें आनेवाला इंद्रियजन्य सुख और दुःख (वासनामात्रम् एव) वासना मात्र ही है। निश्चयसे इस सुखदुःखसे इस आत्माका न तो कुछ उपकार होता है न कुछ अपकार या विगाड़ होता है। तत्त्वज्ञानके न होनेके कारण त्यागने योग्य शरीर, धनधान्य, स्त्री, पुत्र, मित्र, आदिमे यह भ्रम होता है कि यह मेरा इष्ट है क्योंकि उपकारी है और यह अनिष्ट है क्योंकि अपकारी है, इस भ्रमसे जो संस्कार होता है उसको वासना कहते हैं। अर्थात् इष्ट अनिष्ट पदार्थके अनुभवके पीछे पैदा होनेवाला जो स्वसंवेदनगम्य अभिमानमयी भाव कि मैं सुखी या

दुःखी हूं, उसको वासना कहते हैं । सांसारिक सुखदु ख अज्ञानकी वासनासे ही मालूम होता है । यह सुख सच्चा स्वाभाविक आत्म-स्वरूप नहीं है-ऐसा ही है अन्य रूप नहीं है इसी बातकी पुष्टिके लिये यहा एव शब्द दिया है । (तथाहि) तैसे ही (एते भोगा) ये इन्द्रियोंके भोग, सुन्दर स्त्री, पुत्र, धनधान्यादि पदार्थ जिनको लोग सुखदाई मानरहे हैं (आपदि) आपत्तिकालमें अर्थात् दु खसे हटाने योग्य शत्रु आदिसे प्राप्त मनकी आकुलता रूप आपदाके आजाने पर (रोगा इव) ज्वर आदि रोगोंकी तरह (उद्वे-जयति) उद्वेग पैदा कर देते हैं-सुख नहीं प्रदान करते हैं उल्टे दु ख रूप भासते है । किसी जगह कहा भी है.-

" मुचांगं ग्लपयस्यल क्षिप कुतोऽथक्षाश्च विद्भात्यदा ।
दूरे धेहि न हृप्य. एप किमभूरन्या न वेत्सि क्षणम् ।
स्थेयं चेद्धि निरुद्धि गामिति तवोद्योगे द्विपः स्त्री क्षिपं-
त्याश्लेपक्रमुकांगरागललितालापैर्विधित्सू रतिम् ॥ "

भाव-यह है कि पति पत्नी परस्पर सुख मान रहे थे-किसी प्रकार पति चिन्तित हो गया उस समय उसकी स्त्री अपने पतिसे आलिंगनकी इच्छासे अगोंको चलाकर रागसे भरे ललित वचनोंके द्वारा रति करना चाहती है तब वह पति कहता है कि मेरे अगको छोड़, तू मुझे आतापकारी है, बस हट, क्योंकि इससे मेरी छाती पीडित होती है दूर जा-इससे मुझे, हर्ष नहीं होता तब वह स्त्री ताना मारती है, कि क्या अन्य स्त्रीसे प्रीति करली है? फिर पति उत्तर देता है कि तू मौका नहीं देखती है। यदि धैर्य्य है तो, अपने उद्योगमें अपनी इन्द्रीको बश रख इस तरह कहकर स्त्रीको

दूर फेंक देता है। इसमें दिखाया है कि मन दुखी होनेपर काम-भोग भी बहुत बुरा मालूम होता है जो पहले अच्छा मालूम होता था। और भी कहा है–

"रम्यं हर्म्यं चंदनं चंद्रपादा, वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः।
नैते रम्या क्षुत्पिपासार्दितानां सर्वारंभास्तंदुलप्रस्थमूलाः॥"

भाव यह है कि जो लोग भूखप्याससे दुखी हैं उनको सुंदर महल, चंदन, चंद्रमाकी किरण, बासरी, वीनबाजा, युवान स्त्रियें सब पदार्थ अच्छे नहीं मालूम होते हैं क्योंकि यदि घरमें चावलादि अन्न होगा या अपना पेट भरता होगा तो ये सब अच्छे लगते हैं अन्यथा अच्छे नहीं मालूम होते हैं।

और भी कहा है:—

आतपे घृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरण हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यं॥

भाव यह है कि जो पक्षी अपनी प्यारी स्त्रीके साथ धूपमें क्रीडा करता था उसी पक्षीको रात्रिके समय स्त्रीका वियोग होनेपर, चद्रमासे ठंडी किरणें भी नहीं सही जाती हैं। प्रियाके साथमें तो धूप जो कि अतापकारी है–शांतिदाई मालूम होती है और प्रियाके वियोगमें जो चद्रमाकी किरणें ठंडक देनेवाली हैं सो दुखदाई और असह्य भासती हैं। बात यह है कि जब मन दुखी होता है तब सब ही पदार्थ जो अच्छे दीखते थे सो नहीं सहे जाते। इस लिये जानाजाता है कि इन्द्रियोंके सुख वासना मात्र ही हैं। आत्माके स्वाभाविक अनाकुल स्वभावरूप नहीं हैं और तरह हो

भी कैसे सच्चे हैं, क्योंकि जो जो पदार्थ लोकमें सुखदाई प्रतीतमें आते थे वे ही दुःखके कारण हो जाते हैं इस लिये ये इन्द्रियजन्य सुख दुःखरूप ही है।

भावार्थ-यहां पर आचार्यने इन्द्रियोंसे होनेवाले सुख और दुःखको संसारी जीवोंका मोहजनित अज्ञान कारण है ऐसा बताया है। निश्चयसे आत्माका जो गुण सुख है वही सच्चा निराकुल सुख है जो आत्माकी स्वाधीन सपदा है। तथा निश्चय नयसे यह भी बात ठीक है कि संसारके पर पदार्थोंसे आत्माके स्वरूपका न कुछ सुधार होता है और न कुछ बिगाड़ होता हैं। आत्मा शरीरमें रहते हुए भी जैसे जलसे भिन्न कमल है वैसे सर्व प्रकार द्रव्यकर्म, रागादिक भाव कर्म और शरीर आदिक नोकर्म इन सब पुद्गलकी पर्यायोंसे व बाहर जो पदार्थ बद्ध नहीं हैं बिलकुल अलग हैं स्त्री पुत्र मित्रादि उन सबसे भिन्न है। निश्चय-नय वस्तु स्वभावको देखनेवाली है।

इसी लिये इन्द्रिय भोगोंके द्वारा न आत्माका हित है और न अहित है। परन्तु व्यवहार नयसे कर्मबंधकी अपेक्षा जब विचार करते है तब जो जीव तत्वज्ञानी है अर्थात् जिनको अपने आत्म तत्वका सच्चा निश्चय हो गयाहै और आत्मीक आनन्द ही वास्तविक सुख है यह दृढता स्वानुभव द्वारा हो गई है उनके परिणामोंमें इन्द्रिय भोगोंसे सुख दुःख नहीं मालूम होता है। वे बाहरी पदार्थोंको बिलकुल भिन्न समझते है उनके अदर ऐसी ज्ञान वैराग्य शक्ति होती है कि आवश्यका पड़नेपर पूर्वबद्ध कषायके उदयकी बरजोरीसे किसी इन्द्रियका भोग करते हुए भी वे

अभोक्ता रहते हैं उनमें रंजायमान नहीं होते उस समय वे रोगकी कडवी औषधिकी तरह उनको सेवन करते है। भावना यही रहती है—कब यह कषायके उदयका रोग मिटे और कब यह भोग छूटे जो कषाय शमनके वास्तविक उपाय नहीं है किन्तु खाजको तरह खुजानेके समान है। तत्त्वज्ञानीके जो आत्म—भावना रहती है उसके बलसे वह दिनपर दिन अपनी कषायकी शक्तिको कमती करता चला जाता है जिससे कभी ऐसा अवसर भी प्राप्त कर लेता है जो वह सर्व विषय भोगोंसे उदास हो साधु होकर केवल आत्म-रसहीमें भीगा रहता है परन्तु जब तक कषायका बल नहीं घटता है तब तक भी वह तत्वज्ञानी जो इन्द्रिय भोगोंके लाभमें हर्ष व उनके वियोगमें शोक नहीं करता है। उसके चित्तमें ज्ञाता दृष्टापनेका भाव रहता है। वह यह विचारता है कि यह कर्मका नाट है। शुभ कर्म साताकी व अशुभ कर्म असाताकी सामग्री लाते हैं क्योंकि कर्मोदय अनित्य है इसलिये उनका यह कार्य भी अनित्य है। अनित्य क्षणभंगुर पर्यायोंके भीतर हर्ष विषाद करना अपनी मूर्खता है, अज्ञान है, ऐसा सच्चा ज्ञान उसे मोही नहीं बनाता है। श्री अमृतचंद्रस्वामी कहते हैं—

> तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
> यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते॥ २॥
>
> (समयसार कु०)

भाव यह है कि यह कोई ज्ञानका सामर्थ्य है अथवा कोई वैराग्य-का सामर्थ्य है जिससे कि कोई भी तत्वज्ञानी जीव कर्मोंके द्वारा कर्मोंको भोगते हुए बंधमें नहीं प्राप्त होता है। और भी कहते हैं।

नाश्नुते विषयमेवतेऽपि यत् स्वफलं विषयसेवनस्य न।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः॥ २॥

भाव यह है कि विषयोंके सेवते हुए भी जो तत्त्वज्ञानी विषयोंके सेवनका फल नहीं भोगता है सो उसके ज्ञानका महात्म्य और वैराग्यका बल है, जिससे सेवते हुए भी वह सेवनेवाला नहीं होता है—

पंचाध्यायीमें भी यही कहा है—

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान्, सेवमानोऽप्यसेवकः।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः॥२७६॥ (द्वि० अ०)

भाव यह है—यह सम्यग्दृष्टि भोगोंका सेवन भी करता है तौ भी उनका सेवक नहीं होता क्योंकि राग विहीन पुरुषका बिना इच्छाके किया हुआ कर्म उसके रागके लिये नहीं होता। वास्तवमें सम्यक्ती किसी वैषयिक भोगको सेवना नहीं चाहता है परंतु पूर्वकषायरूपी रोगसे दुःखित हो वैराग्य भावसे भोगता है। इसीसे उसे आशक्ति बुद्धि नहीं होती—यही कारण है जिससे उसे अभोक्ता कहते हैं। किंचित् चारित्रमोह सम्बन्धी जो राग होता है उससे जो कुछ बंध होता है वह संसारका कारण न होनेसे अबंधके समान है। तत्त्वज्ञानीकी श्रद्धा एवं परभावोंसे हट जाती है—वह आत्मसुखका ही रुचिवान् होजाता है। वह तो विषयकी अभिलाषारूपी रोगको रंच मात्र नहीं चाहता।

पचाध्यायीमें भी ऐसा ही कहा है.—

व्याधिपीडितो जनः कश्चित् कुर्वाणो रुक् प्रतिक्रियाम्।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक् पुनर्भवे॥७३॥

भाव यह है कि कोई रोगी मनुष्य रोगका उपाय करता हुआ-उस समय भी रोगका रहना नहीं चाहता तो फिर वह कैसे यह चाहेगा कि आगे भी रोग रहे।

कर्मणा पीड़ितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम्।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित साभिलाषः कुतो नयात्॥२७२॥

भाव यह है कि ऊपरके दृष्टांतके अनुसार सम्यग्ज्ञानी भी चारित्र मोहनीय कर्मसे पीड़ित होकर उस कर्मके उदयसे होने-वाली क्रियाको करता है, परन्तु उस क्रियाको करता हुआ भी वह उस स्थानको पसन्द नहीं करता है। तो फिर उसके अभि-लाषा है ऐसा किस नयसे कहा जा सकता है?

तत्वज्ञानी जीवके अज्ञान न होनेसे अतीन्द्रिय सुख हीमें रुचि होती है परन्तु जिसके मिथ्या बुद्धि है, जो आत्माके स्वभा-वको नहीं जानता है वह मनुष्य इन्द्रियजन्य सुख हीको सुख मानता है। इससे जब मनमें चाहकी दाह पैदा होती है तब यदि इच्छित भोग सामग्री मिल जाती है तो अपनेको सुखी मान लेता है, यदि नहीं मिलती है या जैसा चाहता है उससे विरुद्ध मिलती है या जबतक नहीं मिलती है या भोग सामग्रीका वियोग न चाहते हुए भी यदि हो जाता है तो वह बहुत दुःखी हो जाता है। उसकी जो अज्ञानकी वासना है वही उसे सुखी या दुःखी बना देती है। जब इस अज्ञानीका मन किसी आपत्ति, संकट या रोगके होनेपर दुःखित या चिंतित होता है तब जो भोग्य सामग्री पहले अच्छी मालूम होती थी वही असुहावनी मालूम पडती है। चिंताके रहते हुए

भोजन, वस्त्र, सुगंध, नाच, तमाशे, भोग कोई नही सुहाते है- उस समय जैसे रोगपीडित प्राणी दुःखी होता है वैसे ये भोग आकुलताके कारण हो जाते हैं।

यह एक साधारण बात है कि जब द्रव्यकी चिंता नहीं होती तब स्त्री पुत्रादि सब अच्छे लगते-परंतु यदि रोजगार न रहे और दलिद्र अवस्था आजाय तो उस समय बड़ा दु.खी हो जाता है-सोचने लगजाता है कि यदि ये सब भार न होते तो मैं अकेला चाहे जिसतरह पेट भरलेता-वे ही स्त्री, पुत्रादि, चित्तको असुहावने मालूम होने लगते है। इतना ही नहीं जगतमें सर्व ही सम्बन्धी उसी समय ही तक अपने इष्ट दीखते जब तक वे अपने भोगोंमें बाधक नहीं होते। यह मोही जीव विषय-भोगमें जिनसे बाधा पहुचती है उनहीको अपना शत्रु मान लेता है। यदि कोई भाई उसके धनको हरने लगे तो जो भाई पहले प्यारा था वही अनिष्ट और दु खकारी दीखने लग जाता है। जो स्त्री अपनेको प्रिय भासती थी यदि आज्ञा विरुद्ध चले और पतिके अनुकूल न वर्ते अर्थात रोगादिसे पीड़ित रहे पतिके विष योंमें साधक न रहे, वही स्त्री विषयलम्पटी पतिको बुरी मालूम होने लगती है। जो मातापिता बहुत वृद्ध होजाते और स्वयं काम न करसकनेके कारण उल्टा अपना काम करवाते उन मातापिता-ओंसे मोही जीवोंका प्रेम हट जाता, वे उनको सुहावने नहीं लगते और इसी लिये उनका शीघ्र मरण हो ऐसा विचार भी मनमें आजाता इत्यादि जगतके भीतर जिनके अज्ञान है कि पर पदार्थसे दु ख अथवा सुख होता है वे कभी उस पर पदार्थको इष्ट कभी

अनिष्ट मान लेते हैं। जिन रुईके भारी कपड़ोंको शीतऋतुमें इष्ट मानता उनहीको उष्ण ऋतुमें अनिष्ट मानने लगता है। वास्तवमें कोई पर पदार्थ अपनेको न सुखदाई है न दुःखदाई है। अपने मनमें जो कल्पना उठ खडी हुई उसकी पूर्तिमें मैं सुखी, अपूर्तिमें मैं दुःखी ऐसी मानता अज्ञानी मोही जीवमें हुआ करती है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इंद्रिय सुख सच्चा सुख नहीं है। इंद्रिय सुखके लोभमें पडकर अतीन्द्रिय सुखका प्रयत्न छोड़ देना व न करना मूर्खता है। यद्यपि स्वर्गादिमें इन्द्रियजनित सुख प्राप्त होगा परन्तु वह वास्तवमें दुःख ही प्रदान करेगा, आकुलताको बढावेगा, चाहकी दाहकी वृद्धि करेगा और अपने वियोगमें जीवको महादुःखी बनावेगा। इससे मोक्षके लिये भावना करनी ही कार्यकारी है।

दोहाः—विषयी सुख दुख मानते, हैं अज्ञान प्रसाद।
भोग रोग वत् कष्टमे, तन मन करत विषाद ॥६॥

उत्थानिका—अब फिर शिष्य प्रश्न करता है। जब ये सुखदुःख वासना मात्र ही है तब क्या कारण है जो जगतके लोग इस बातका अनुभव नहीं करते। इसीका समाधान आचार्य करते हुए समझाते हैं—

श्लोक—मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥

सामान्यार्थ—मोहसे विपरीत परिणमन करनेवाला ज्ञान पदार्थोंके स्वभावको नहीं जानता है जिस तरह मादक कोदव

अन्नके खा लेनेसे उन्मत्त हुआ पुरुष पदार्थोंके स्वभावको नहीं पहचानता है।

विशेषार्थ-(मोहेन) मोहनीय कर्म्मके उदयसे (संवृतं) ढका हुआ अर्थात् वस्तुओंके यथार्थ स्वरूप प्रकाश करनेमें अपनी सामर्थ्यको खोया हुआ (ज्ञानं) ज्ञान अथवा धर्म्म धर्मीका किसी अपेक्षा तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे पदार्थोंके जाननेका व्यापार करनेवाला आत्मा (पदार्थानां) सुखदुःख शरीर आत्मा आदि पदार्थोंके (स्वभावं) स्वभावको अर्थात् उनके असाधारण भावको जो एक दूसरेसे भिन्नताका ज्ञान करानेमें कारण हो (नहि लभते) नहीं पहचानता है। (यहां लभतेका अर्थ जाननेका लेना चाहिये क्योंकि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं जैसे जगतमें कहते है मैंने इसके चित्तको पालिया) ऐसा ही अन्य ग्रंथमें कहा भी है:—

" मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः।
कर्म्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः॥"

भाव यह है कि जैसे मलसे विद्ध अर्थात् भरी हुई मणिकी प्रगटता अनेक रूप होती है वैसे कर्म्मबधसे बंधे हुए आत्माके भावकी प्रगटता अनेक रूप होती है। जैसे फटिक मणि निर्मल स्वच्छ है परन्तु जैसा मल उसके साथ लगा होगा वैसी ही वह दीखेगी। लाल मलसे लाल, हरेसे हरी, कालेसे काली, वैसे ही आत्मा यद्यपि अपने स्वभावसे स्वच्छ है परन्तु जैसा कर्मका उदय होता है वैसा उसका परिणमन झलकता है। क्रोधके उदयमें क्रोध रूप, मानके उदयमें मानरूप, मायाके उदयमें मायारूप, लोभके उदयमें लोभ रूप। यही कारण है जो दर्शनमोहनीय मिथ्यात्वके

उदयके कारण आत्माका ज्ञान मिथ्याज्ञान व अज्ञान रूप होकर परिणमन करता हुआ पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता है। यहां कोई शङ्का करता है कि आत्मा तो अमूर्तीक है और कर्म्म जड़ मूर्तिक हैं तब अमूर्तिकका मूर्तिकसे रुकना कैसा ? इसीके उत्तरमें आचार्य दृष्टांत देते हैं—

(यथा) जैसे (मदनकोद्रवैः) मद्य पैदा करनेवाले कोदोंके द्वारा (मत्तः) प्राप्त किया है नशा जिसने ऐसा (पुमान्) कोई व्यवहारी पुरुष (पदार्थाना स्वभावं) घटपट-आदि पदार्थोंके स्वभावको (नहि लभते) नहीं पहचानता है। आचार्य इस अज्ञानीको चेष्टा बतानेको आगे "विराधक" तक श्लोक कहेंगे। इस अज्ञानका जबतक सम्बन्ध है तबतक यह मोही प्राणी स्वभावको न जानता हुआ औरका और जानता है। शरीर आदिका यथार्थ स्वरूप न जनता हुआ शरीरादिको औरका और मानता है।

भावार्थ—यहांपर आचार्य मोही जीवके अनादिकालके अज्ञानको बताते हैं कि जैसे कोई तीव्र नशेमें होता वह अपने स्वरूपको और परके स्वरूपको औरका और जानता है—अपनी माताको स्त्री और स्त्रीको माता जानने लगता है—मद्यके निमित्तसे ज्ञान विपरीत हो जाता है। उसी तरह इस संसारी आत्माके अनादि कालसे ही मोहनीय कर्मोंका सम्बन्ध हो रहा है जिससे अनादिसे ही इसका ज्ञान विपरीत हो रहा है—इसी विपरीत बुद्धिके कारण यह अज्ञानी जीव शरीर आदि पदार्थोंके स्वरूपको ठीक २ नहीं जानता है। जो इन्द्रिय भोग तृप्तिको

नहीं करते तथा वियोग होने पर दुःख देते व चाहकी दाहको बढ़ाकर आकुलित कर देते उनहींको सुखदाई जान रहा है और जो अतीन्द्रिय सुख स्वाधीन अपने ही पास है उसकी-उसे कुछ भी खबर नहीं है–इसमें दोष उसके तीव्र मिथ्यात्वके उदयका है।

यह आत्मा संसार अवस्थामें अनादिसे ही अज्ञानी मिथ्या-दृष्टी बहिरात्मा हो रहा है, अनादि कालसे ही इसके साथ आठ कर्मोंका बंध है उन्होंमें सबसे प्रबल मोहनीयकर्म है–इसी कारण यह संसारी जीव जिस शरीरमें जाता है उसी रूप अपनेको मान कर पर्यायबुद्धि हो जाता है–उस शरीरमें जो अवस्था होती है उसीमें अहंकार करता है–यदि इच्छानुसार पदार्थ मिला तो मैं सुखी, यदि इच्छानुसार न मिला तो मैं दुःखी, ऐसा माना करता है और उस पर्यायमें जो जो चेतन अचेतन पदार्थ अपनी इंद्रि-योंको हितकारी भासते हैं उनमें राग करके ममकार कर लेता है–और जो अहितकारी मालूम होते हैं उनमें द्वेष कर लेता है–यह वासना अनादि कालसे बहुत दृढ़ हो गई है जिससे शास्त्र व गुरुद्वारा समझाए जाने पर भी अपनी उस आदतको नहीं मिटा पाता है–ऐसा ही श्री पूज्यपादजीने समाधिशतकमें भी कहा है–

> अविद्या संज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढ ।
> येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

भाव यह है कि अज्ञान मई अभ्याससे ऐसा दृढ़ संस्कार हो जाता है जिससे यह जन बारबार अपने शरीरको ही आप रूप माना करता है।

आत्मा अमूर्तिक है तथापि अनादि कालसे एक भी आत्मा का प्रदेश कर्मबंधसे खाली नहीं है इसीसे व्यवहारमें मूर्तिकसा होरहा है। यदि यह किसी समय भी शुद्ध होता तो फिर विना कारणके कभी अशुद्ध नहीं हो सक्ता। यदि शुद्ध आत्मा विना कारणके ही अशुद्ध हो जाया करे तो मुक्तात्मा अथवा परमात्मा भी अशुद्ध हो जाय इसलिये जैसे शुद्ध सुवर्ण पर फिर किट्ट कालिमाका ऐसा सम्बन्ध नहीं हो जाता जिससे यह अशुद्ध कनक पाषाण हो जाय और फिर उसको शुद्ध करनेकी जरूरत पडे, वैसे ही शुद्ध आत्मामें फिर कर्म बंधका मैल नहीं चढ सक्ता। इस लिये ऐसा नहीं है कि कभी आत्मा बिलकुल शुद्ध अमूर्तिक था। किन्तु बात यही यथार्थ है कि जैसा यह आत्मा वर्तमानमें अपने अज्ञान व रागादि भावकी प्रगटतासे अपनेको अशुद्ध तथा बद्ध दिखला रहा है वैसे ही यह सदाका है। जैसे वृक्ष और जीवका अनादि सम्बन्ध है—किसी बीजसे वृक्ष होता, उस वृक्षसे फिर कोई बीज होता, फिर उस बीजसे वृक्ष होता, फिर उस वृक्षसे बीज होता है। जबतक वह बीज दग्ध न करदिया जाय तबतक उसकी वृक्ष व बीज संतानरूप प्रवृत्ति सदा चली जायगी वैसे ही अशुद्ध आत्माके पूर्वबद्ध कर्मोंके असरसे रागद्वेष मोह होते हैं—उन रागद्वेष मोहोंसे फिर कर्मोंका बंध होता है। उन कर्मके बंधोंसे फिर अशुद्ध भाव होते इस तरह अनादिकालसे संसारी जीवकी मोहकी प्रवृत्ति चली आ रही है।

आत्मा कर्मबंधोंसे मूर्तिकसा होरहा है इसीसे जैसे इसपर नशेके असरसे ज्ञानमें विपरीतता आती वैसे मोहनीय कर्मोंके असरसे ज्ञानमें विपरीतता आती है।

यहां जो मणिका दृष्टांत दिया है वह ठीक खपता है—श्वेत मणिके भीतर यदि कृष्णरंगका मल हो जाता है तो वह कृष्णवर्णकी ही व्यवहारमें हो जाती है, वैसे ही कर्मोंके बंधसे आत्मा व्यवहारमें अशुद्ध मोही हो रहा है इसी मोहका यह माहात्म्य है जिससे वासना मात्र सुख दुःखको ही समझता है परन्तु स्वात्माके सुखको नहीं पहचानता है ।

दोहा—मोहकर्मके उदयसे, वस्तु स्वभाव न पात ।
मदकारी कोदो भखे, उल्टा जगत लखात ॥ ७ ॥

उत्थानिका—इसी ऊपर कहे हुए अर्थको और भी आचार्य स्पष्ट करते हैं:—

श्लोक—वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

सामान्यार्थ—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सब पदार्थ सर्व प्रकारसे आत्मासे भिन्न स्वभाववाले हैं—मूढ अज्ञानी इन सबोंको अपना मान लेता है ।

विशेषार्थ—(वपुः) शरीर, (गृहं) घर (धनं) गाव भैंसादि (दाराः) स्त्रियें, (पुत्राः) पुत्र, (मित्राणि) मित्र, (शत्रवः) और शत्रु (सर्वथा) सर्व प्रकारसे अपने २ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लक्षणकी अपेक्षा (अन्य स्वभावानि) अपने आत्मस्वभावसे भिन्न अन्य स्वभावको रखनेवाले हैं । उनको (मूढः) आत्म अनात्मके भेद ज्ञानसे शून्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव (स्वानि) अपने ही (प्रपद्यते) मानता है—अर्थ यही है कि अत्यंत दृढ़ मोहसे

असीभूत आत्मा इनदेह आदि पदार्थोंका जो अपने नहीं है उनको अपना माना करता है।

भावार्थ–मूढ बुद्धि पुरुषको भेद ज्ञान नहीं होता। इससे वह पदार्थोंके स्वभावोंको औरका और मानता है। उसको आत्माका स्वभाव द्रव्यदृष्टिसे मालूम नहीं होता है। वह पर्याय दृष्टिसे जो अपना स्वरूप मालूम हो रहा है उसे ही आत्मा करके मान लेता है कि मैं सुखी हूं, दुःखी हू, रागी हूं, द्वेषी हूं, क्रोधी हूं, मानी हूं, जैसे भाव कर्म जो अशुद्ध भाव है उसमें अह वृद्धि करलेता हैं वैसे ही जो नोकर्मरूप अपना शरीर है उसमें यह बुद्धि रखता है कि मैं पशु हूं, मनुष्य हूं, देव हू, नारकी हूं। जिस प्रकारका शरीर होता है उस शरीरमें जैसी व जितनी इंद्रियां होती हैं व उनके जितने विषय होते हैं उतने ही इंद्रियों रूप व उतने ही विषय रूप यह अज्ञानी प्राणी अपनेको मान लेता है। एकेंद्रियमें स्पर्शइंद्रिय रूप विषयका भोक्ता, द्विइन्द्रियमें स्पर्श रसना इन्द्रियोंके विषयोंका भोक्ता, तेंद्रियमें स्पर्श, रसना, घ्राण इंद्रियोंके विषयोंका भोक्ता, चौइंद्रियमें स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु इद्रियोंके विषयोंका भोक्ता और पंचेंद्रियोंमें स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षू तथा श्रोत्र इंद्रियोंका भोक्ता होकर उन्हीं इंद्रियोंके रसोंमें रंजायमान होता है। इस पर्यायबुद्धि प्राणीको अपने स्वभावकी खबर नहीं होती है।

समाधिशतकमें आचार्यने ऐसा ही कहा है:–

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितःस्वात्मनोदेहमात्मत्त्वेनाध्यवस्यति ॥ ७ ॥

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यंच तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥ ८ ॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्वतस्तथा।
अनन्तानन्त धी शक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥ ९ ॥

भाव यह है कि बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि आत्मज्ञानसे शून्य इंद्रियोंके द्वारोंसे काम करता हुआ अपनी देहको ही आप जानता है। वह अज्ञानी मनुष्य देहमें होनेसे अपनेको मनुष्य, तिर्यंच देहमें होनेसे अपनेको तिर्यंच, वृक्षादि या पशु पक्षी आदि देवकी देहमें होनेसे अपनेको देव और नारकीकी देहमें होनेसे अपनेको नारकी मान लेता है। आप आत्मो निश्चयनयसे इन चार गति रूप नहीं है किन्तु अनंतानंत ज्ञानकी शक्तिको रखने वाला, अपने स्वभावमें निश्चल स्थितिका स्वामी व स्वयं अनुभवगम्य है ऐसा नहीं जानता है।

जैसे शरीरको आप रूप मानता है वैसे ही शरीरके संबंधी घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र व शत्रुओंको भी ऐसा मान लेता है कि यह मेरा घर है, मेरा धन है, मेरी स्त्री है, मेरा पुत्र है, मेरा मित्र है अथवा ये मेरे शत्रु हैं। शरीरके हितकारियोंमें ऐसा मोही हो जाता है कि उनके लिये मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यका सेवन करने लगता है। उनकी रक्षाके लिये चाहे जिस देवी देव आदिकी पूजा करने लगता है, धन कमानेके लिये असत्य, चोरी, जुआ आदि सेवन करता है, उनहीके मोहमें पड चाहे जहां जाता और अभक्ष्य खाता है। पैसेका लोभ करके घुना अन्न अशुद्ध घी आदि व्यवहार करता है-इत्यादि पंच पापोंमें पड़कर

खूब दुष्कर्म कमाता है। इतना उनमें रागी-हो जाता है कि उनके वियोग होनेसे अपना मरण चाहने लगता है तथा आप नित्य मरणसे डरता है कि कहीं इन स्त्री पुत्रादिका वियोग न हो जाय। जैसा कि समाधिशतकमें कहा है:-

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च विभेति मरणाद् भृशम् ॥७६॥

भाव यह है कि देह आदिमें आत्मापनेकी दृढबुद्धि रखनेवाला अपना नाश विचारते हुए व मित्र पुत्रादिके साथ वियोग होता देखते हुए मरणसे बहुत ही डरता रहता है-निरंतर चाहता है कि इष्ट वस्तुका वियोग न हो और न कभी मेरा मरण हो। जिन २ वस्तुओंका रंच मात्र भी सम्बन्ध अपने आत्माके स्वभावसे नही है उनको आपरूप मानलेता है। प्रत्यक्ष प्रगट है कि चेतन पदार्थ जो स्त्री पुत्रादि है उनमें जो आत्मा है वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपनी आत्मासे भिन्न है तथा जो शरीर है वह स्पर्श, रस, गंध वर्णमई पुद्गलसे बना है जो अमूर्तिक आत्मासे सर्वथा भिन्न है। अचेतन पदार्थ जितने इन्द्रियोंसे ग्रहणमें आते हैं वे सब पुद्गलमई हैं-मूर्तिक है-बिलकुल आप स्वभावसे जुदे है। इस लिये अज्ञानी मिथ्याश्रद्धानसे बहुत कष्ट उठाता है। वास्तवमें जो परको अपना माने वही अपराधी व चोर है इससे लौकिकमें चोरकी तरह कर्मबंधसे बधता और कष्ट पाता है।

दोहा-पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ।
बिलकुल निजसे भिन्न हैं, मानत मूढ निजार्थ ॥ ८ ॥

उत्थानिका–आगे आचार्य इन शरीर आदि पदार्थोंके मध्यमें जिन स्त्री पुत्रादिकोंके समूहको अपना उपकारी जानता है उन ही पदार्थोंको विषय करके दृष्टांत द्वारा दिखलाते हैं कि इनको अपना मानना अज्ञान है–

श्लोक–दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

सामान्यार्थ–पक्षीगण अनेक दिशाओंके स्थानोंसे आकर संध्याकालको इकट्ठे होकर वृक्ष वृक्षपर बसेरा करते है परतु सवेरा होते होते अनेक दिशाओंके देशोंमें अपने २ कार्यके वशसे चले जाते हैं।

विशेषार्थ–(खगा) पक्षीगण (दिग्देशेभ्यः) पूर्वादि दिशाओं और उनमें स्थित अंग बंग आदि देशोंसे (एत्य) आ करके (नगे नगे) वृक्ष वृक्ष पर (संवसति) रात्रिभर मिलकर ठहरते हैं· तथा (प्रगे प्रगे) सवेरा होने होते (स्वस्व कार्य-वशात्) अपनी २ करणीके आधीन होकर (दिक्षु देशे) दिशाओंमें तथा देशोंमें (याति) जाते हैं। यह नियम नहीं है कि जिस दिशा व जिस देशसे आए वहीं जावें–कोई किस दिशा व देशसे आया था तथा अन्य ही दिशा व देशको जाताहै, जहां कहीं उनकी इच्छा होती है वे जाते हैं। यह दृष्टांत है इसी तरह संसारी जीव भी नरक आदि गतिके स्थानोंसे आकर किसी कुलमें अपनी२ आयु पर्यंत मिलकर रहते हैं और फिर मरण करके अपने २ बांधे हुए कर्मकी परतंत्रतासे देवगति आदि स्थानोंमें विना किसी

नियमके चले जाते है। हे शिष्य! ऐसा जानना जब ऐसी दशा है तो हे भद्र, जिन स्त्रीपुत्र आदिकोंको तूने अपना हितकारी समझ कर पकड़ रक्खा है तथा जिनका स्वभाव तेरे आत्मासे बिल्कुल भिन्न हैं उनके साथ क्यों अपनापना मान रहा है? यदि वास्तवमें ये तेरे हो जाते होंय तो तेरे उस अवस्थामें रहते हुए ही वे तुझे छोडकर क्यों दूसरी अवस्था या गतिको चले जाते हैं। तथा यदि ये तेरे हों तो जहां कहीं विना किसी प्रयोगके ही क्यों चले जाते हैं इस लिये तू मोह रूपी पिशाचके जोरको हटाकर यथार्थ देख तथा विचार।

भावार्थ—आचार्यने इस श्लोकमें जिन स्त्री पुत्रादिकोंको यह अपना मानके उनके मोहमें फंसकर अपने आत्मकल्याणको भूल जाता है उनके साथ इसका कितनी देरका कैसा सयोग सम्बन्ध है उसे बतलाया है। रात्रिको जैसे पक्षीगण कोई कहींसे कोई कहींसे आकर किसी एक वृक्षमें वास करते है सवेरा होते २ अपनी २ इच्छासे विना एक दूसरे पक्षीको तरफ खयाल किये चाहे जिधर चले जाते हैं। कोई आता पूर्वसे तो जाता पश्चिमको है, आता है वंग देशसे तो जाता राजपूतानाको है। उन पक्षियोंकी इच्छा भिन्न २ हैं उनके कार्य्य भिन्न भिन्न हैं जो रात्रिभरके बसेरेमें पक्षीगण परस्पर एक दूमरेको अपना ही मानने लगें तो उसका फल यह हो कि वियोग होते हुए परस्पर कष्ट हो परन्तु पक्षियोंमें ऐसा मोह नहीं होता वे विना दूसरेकी अपेक्षाके आते और जाते हैं। इसी तरह एक कुलमें कोई जीव स्वर्गसे आकर पुत्र हुआ। कोई पशु गतिसे आकर पुत्री भई कोई

मनुष्य गतिसे आकर भाई हुआ, कोई नरक गतिसे आकर बहन हुई। एक कुटुम्बके परस्पर मिलकर रहते हुए भी यदि भाईकी आयु पूरी हो जाती है तो हमारे जीते हुए ही वह हमें छोड़कर चला जाता है उसने यदि धर्म साधनकर देव आयु बांधी है तो देवगतिमें चला जाता है यद्यपि वह मनुष्य गतिसे आया था इसी तरह थोड़े दिन बाद प्यारा पुत्र मर जाता है उसने धर्म-साधन नहीं किया था इससे यद्यपि वह स्वर्गसे आया था परन्तु पशु गतिमें चला जाता है। कुछ दिनों पीछे आप भी मर जाता है उस समय कोई पुत्री कोई बहन उसे रोक नहीं सकी यह आया था देवगतिसे परतु कुटुबके मोहमें रौद्रध्यान करके नर्क आयु बांधी थी इससे नर्क चला जाता है। इस तरह आचार्यने सच्चा स्वरूप बताकर कुटुबके झूठे मोहको छुडाया है जिस मोहमें पडकर यह अपना हित बिलकुल भुलाकर रात्रदिन उनहींके फेरमें पडकर नाना प्रकारके पाप कमाता है। अज्ञानी जीव पुत्र, स्त्री आदिकको अपना ही मान लेता है जैसा समाधिशतकमें भी कहा है.—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥ १४ ॥

भाव यह है कि शरीरमें आत्मपनेकी बुद्धि होने हीसे पुत्र स्त्री आदिकी कल्पनाएं होती हैं। जगतके लोग खेदकी वात है कि उन्हींसे अपनी सम्पत्ति मानते है और उनके मोहमें महा-कष्ट उठाते हैं।

ज्ञानीको ऐसा मानना चाहिये कि वृक्षमें पक्षियोंके बसेरेके समान इस शरीर व स्त्री पुत्रादिका सम्बन्ध है जो अवश्य छुटनेवाला है। इससे उनके मोहके फदमें नहीं फसना चाहिये। उनके बीचमें रहते हुए भी अपने आत्मकल्याणको कभी नहीं भूलना चाहिये। ज्ञानी अपना उपकारी उन्हीको मानता है जिनसे धर्मके साधनमे मदद मिले। पहले तो स्त्री पुत्रादिक सर्व स्वार्थी होते है। अपना प्रयोजन सिद्ध होने तक प्रीति करते है। प्रयोजन जब सिद्ध नहीं होता तब उनका प्रेम भी चला जाता है। इसलिये इनसे प्रीति करना व इनको उपकारी जानना एक प्रकारका अपना भ्रम है। दूसरे यदि उनमेंसे कोई धर्मसाधनमे मदद भी देते हों तो उनसे धर्मबुद्धिकी अपेक्षा राग होना चाहिये वह राग उसी जातिका है जैसा किसी साधर्मीसे राग होता है। इसलिये हानिकारक नहीं है। हानिकारक तो यह राग है कि ये स्त्री पुत्रादि देह मेरे इन्द्रियोंके विषय भोगोमे उपकारी हैं इससे ये सदा बने रहने चाहिये। और इनका कभी भी वियोग नहीं होना चाहिये। इस तरहका राग इस लोक और परलोक दोनोंमें दुखदाई है। यहा उनकी तृप्तिके लिये धन कमानेके अर्थ न्याय अन्याय धर्म अधर्मका विचार न रख वर्तन करता है। उनके जरा रोगा शोकी होने पर आप महादुखी हो जाता है और कदाचित् उनका वियोग होता है तो अपनेको महान् कष्टसागरमें डूबा हुआ मान लेता है। परलोकमें उनके मोहमें गृसित अपने परिणामसे दुर्गतिमें चला जाता है। तात्पर्य यह है कि जिनको मोही जीव अपना उपकारी मानता है उन सबका स्वभाव अपनो

आत्माके स्वभावसे भिन्न है। जब वे बिलकुल भिन्न हैं तब उन्हें अपना मानना भ्रम और महाभारी अज्ञान है। इस लिये ज्ञानीको सेवकवत् उनका पालन करना और उनसे आत्महितमें मदद लेना चाहिये और जैसे सेवकसे सच्ची प्रीति नहीं होती वैसे इन देह पुत्रादिसे सच्ची प्रीति न रखनी चाहिये।

दोहा-दिशा देशतें आयकर, पक्षी वृक्ष वसन्त।
प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उड़त ॥९॥

उत्थानिका-इसी तरह आचार्य्य शत्रुओंकी तरफ जो यह भाव होता है कि ये हमारे शत्रु है, इस अज्ञानको मेटनेके लिये दृष्टांत देकर समझाते हैं।

श्लोक-विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यंगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दंडेन पात्यते ॥१०॥

सामान्यार्थ-अपकार करनेवाला क्यों अपने मारनेवाले मनुष्य पर क्रोध करता है? जो अपने दोनों पगोंसे त्रागुरा नामा यन्त्रको नीचे गिराता है वह स्वय उस दंडसे गिरा दिया जाता है। यह न्याय है, इसलिये क्रोध करना ठीक नहीं।

विशेषार्थ-(विराधक) अपकार करनेवाला अर्थात् जिसने पहले किसीका नाश या बिगाड किया है वह मनुष्य (कथं) न मालूम क्यों (हंत्रे जनाय) उसको बदलेमें मारने-वाले व अपकार करनेवाले मनुष्य पर (परिकुप्यति) क्रोध करता है? अर्थात जब उसने बिगाड किया था तब उसे अपना बदला मिल रहा है फिर क्रोध नहीं करना चाहिये क्योंकि अपनी ही करणीका फल हुआ है।

जैसा कहा भी है:-

"सुखं वा यदि वा दुःखं येन यस्य कृतं भुवि ॥
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः ॥"

भाव यह है कि यह भले प्रकार निश्चित बात है कि जो जिसको इस जगतमें सुख या दुःख पहुंचाता है वह उसीसे सुख या दुःख प्राप्त करता है।

इसलिये जिसके साथ बिगाड़ किया था उसने यदि बदला लिया तो उसपर क्रोध करना अन्याय है अयुक्त है। यहां दृष्टांत कहते हैं-

(त्र्यंगुलं) त्रागुरा नामा यंत्र जो तीन अंगुलीके आकार होता है व जिससे कचरा वगैरा बुहारा जाता है उसमें जो काठका डंडा लगा होता है। उसको (पदभ्यां) अपने दोनों पैरोंसे पकड़ कर (पातयन्) भूमिमें नीचे झुकानेवाला कोई विना विचारे काम करनेवाला मनुष्य (दंडेन) हाथमें पकडे हुए दंडेसे (स्वयं) अपने आप ही दूसरेको प्रेरणाके विना (पात्यते) जमीनपर गिरा दिया जाता है। इस लिये अहितकारी शत्रुमें द्वेषभाव आत्मकल्याण चाहनेवाले पंडित जनको नहीं करना चाहिये।

भावार्थ-यहां पर आचार्यने अपना अहित करनेवाले व्यक्ति पर जो द्वेषभाव होता है उसके दूर करनेकी शिक्षा दी है कि अपना जो कोई कुछ भी बिगाड करता है उसमें कारण यह अवश्य है कि हमने भी कभी उसका बिगाड़ किया होगा। जब हमने स्वयं भूल की तब उस भूलका फल हमें समताभावसे भोग लेना चाहिये। यदि कुछ विचार लाना चाहिये तो अपनी ही

भूल पर लाना चाहिये कि यदि मैं ऐसा न करता तो मुझे ऐसा फल न मिलता जिसके निमित्तसे फल मिल रहा है उस पर क्रोध करना वृथा है उल्टा और दूसरा दोष करना है; शत्रुपर द्वेषभाव लाना मूर्खता है अज्ञान है। इसीका दृष्टांत दिया है कि जैसे कोई मूर्ख त्रागुरा नामके कचरा झाड़नेवालेके डडेको अपने दोनों हाथोंसे ऊपर पकड़े और अपने दोनों पग जमीनसे उठाकर उस दडेके पकडनेमें लगा दे और उसे झुकावे तो फल यह होगा कि वह आप ही गिर जावेगा। इस दृष्टांतसे उस मूर्खको जमीनपर गिरनेसे जो कष्ट हुआ उसमें कारण वह स्वयं ही है—यदि वह दोनों पगोंको लगाकर उस दडको नीचे न करता तो वह कभी नहीं गिरता। इसी तरह इस ससारमें जो कुछ अपना अहित होता है उसका कारण वास्तवमें अपना ही किया हुआ पापका उदय है। दूसरा प्राणी तो केवल निमित्तमात्र है। जैसे पुत्र, स्त्री, मित्रादिकोंको उपकारी मानना अज्ञान है वैसे शत्रुको अपकारी मानना भी अज्ञान है। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि शास्त्रोंमें ऐसे दृष्टांत मिलते हैं कि जिसने जिसके साथ कुछ बुराई की उसीके साथ वैर बंध जाता है। वह या तो इस जन्ममें अपनी बुराई करता है या परलोकमें करता है—उस समय ज्ञानी जीव अपना ही दोष विचारकर समता रखता है—यह एक स्थूल बात है। सूक्ष्म भाव यह है कि अपना अहित होने पर अपने अशुभ कर्मको ही विचारना चाहिये। जगतमें साता असाताका उदय अपने अपने ही शुभ अशुभ कर्मोंके अनुसार होता है। आचार्यका अभिप्राय इस ग्रथमें इस संसारी जीवको मुक्ति मार्गकी तरफ

लगानेका है, उसको सच्चा आत्मसुख प्राप्त करानेका है—इसीलिये वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको बतला रहे हैं।

यहा पर यह शंका होसक्ती है कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ इष्ट पदार्थोंमें राग व अनिष्ट शत्रु चोर आदिमें द्वेष भी रखता है। तब क्या वह सम्यग्दृष्टी यथार्थ ज्ञानी नहीं है? इसका समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टीका श्रद्धान तो ऐसा ही है कि वास्तवमें मेरे आत्माका न तो कोई मित्र है न कोई शत्रु है मेरे आत्माका न कोई सुधार कर सक्ता है न कोई विगाड कर सक्ता है। ऐसा निर्मल रागद्वेष रहित वैराग्य भाव रखता है तथापि चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह बिलकुल कषायके जोरसे बचता नहीं, इसलिये प्रयोजनवश शरीरके हितकारियोंको हितकारी व अहितकारियोंको अहितकारी समझता है इसलिये स्त्रीपुत्रादि हितकारियोंकी रक्षा व अहितकारियोंका निग्रह करता है। तौ भी उसका ऐसा प्रेमभाव कुटुम्बसे नहीं होता और न ऐसा द्वेषभाव अहितकर्ता पर होता है जिससे वह सम्यग्दृष्टी अपने आत्माका अहित कर डाले। भीतर परिणामोंमें तो सबके साथ समभाव रखता है। किसीका भी अहित नहीं चाहता है जो अपना अहित करता है उसका भी हित ही चाहता है कि किसी तरह इसका परिणाम ठीक होजाय किसी तरह यह सुमार्ग पर आजावे इस ही भावसे ही वह निग्रह या दंड आदि भी करता है।

यदि शत्रु शरण ग्रहण कर ले व आधीन होजाय तो हर तरह उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करता है जैसे सम्यग्दृष्टी गृहस्थ श्री रामचंद्रजीने राजा बज्रजंघके शत्रु राजा सिंहोदरको जब

युद्ध द्वारा वश किया तब सिंहोदरने ज्योंही अपनी भूल मानके आधीनता स्वीकार की त्योंही श्री रामचंद्रजीने उसे छोड़ दिया। इतना ही नहीं, उसको अभिषेक करा वस्त्र आभूषणादिसे अलंकृत किया, भोजन पान कराया, धर्मोपदेश दिया और उसका देश उसीको प्रजा पालनार्थ दे दिया। वास्तवमें सम्यग्दृष्टी किसीका अहित नहीं चाहता। वह गृहस्थ अवस्थामें जितनी कषाय होती है उसके अनुसार उस दोष व अन्यायसे द्वेष करता है जो किसी व्यक्तिने किया है और उसका दोष निकल जाय इस लिये उसे शिक्षा देता है व उसका निग्रह करता है अथवा अपनी रक्षाके हेतु कोई उपाय बचा नहीं रखता है। क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र चारों ही वर्णवाले नीच ऊंच सर्व हीको आत्मतत्त्वका सच्चा श्रद्धान हो सक्ता है और वे सम्यग्दृष्टी हो सक्ते हैं—तब उनके मिथ्यात्त्व कर्मके दब जानेसे जैसे यथार्थ श्रद्धान हो जाता है तैसे अनंतानुबंधी कषायोंके उपशमसे अन्याय रूप प्रवृत्तिका अभाव हो जाता है। किन्तु ऐसे चौथे दर्जेवाले अविरत सम्यग्दृष्टीके अप्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय नहीं उपशम होता इससे वह न्याययुक्त रीतिसे जगतमें वर्तन करता है। और अपनी २ पदवीके अनुसार जो कुछ लौकिक कर्तव्य है उसको अच्छी तरह पालन करता है। जब तत्त्वज्ञानका मनन करते हुए अप्रत्याख्यानावरणी कषाय भी उपशम हो जाती है तब प्रत्याख्यानावरणी कषायके अधिक उदयमें कम संयम नियम प्रतिज्ञा और उनके मंद उदयमें अधिक संयम नियम प्रतिज्ञा धारण करता है—ऐसी श्रावक दशामें ८वीं आरंभत्याग प्रतिमामें वह ऐसा शांत होजाता

है कि यदि कोई शत्रु अपना घात भी कर डाले तो वह अपने आत्माका घात नहीं समझता हुआ शरीरके घातको अवश्यंभावी जान व उस शत्रुके निमित्तसे अपने ही पूर्व बांधे कर्मकी निर्जरा होती जान आनंद व वैराग्य भाव रखता है, किंचित् भी क्रोध-भाव चित्तमें नहीं लाता है– इसके आगेके सर्व श्रावक और सर्व मुनि परम उत्तम क्षमाके धारी होते हैं। आप कष्टोंको सहते हैं तथा अपने आत्मबलके द्वारा जरा भी कषाय भाव नहीं करते हैं। पहले भी सम्यग्दृष्टी ज्ञानीका श्रद्धान अपेक्षा तो ऐसा ही भाव था कि जो शत्रु मेरा उपकार कर रहा है तो यह मेरे पहले किये हुए अपकारका बदला ले रहा है इसमें मेरा ही अपराध है इसका दोष नहीं है परंतु उसके कषायका वेग नहीं घटा हुआ है इससे न्याय पूर्वक उसको शिक्षा देनेका व अपनी रक्षा होनेका यत्न करता है। श्री पूज्यपाद स्वामी तो यहा वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा बताते हुए अज्ञानीके अज्ञानको मेट रहे हैं–इसीलिये उन्होंने समझाया है कि अपने हननेवाले पर भी किंचित् द्वेषभाव न लाना चाहिये और समता रखकर रागद्वेषको जीतना चाहिये। तथा ऐसी भावना करना चाहिये जैसा समाधिशतकमें कहा है–

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

भाव यह है कि यह जगत जो मेरेको अर्थात् मेरे शुद्ध स्वरूपको देखता ही नहीं है वह विना मुझे देखे मेरा शत्रु या मित्र नही हो सक्ता है और यदि कोई मनुष्य मेरे शुद्ध आत्म-स्वरूपको पहचानता है तो वह ज्ञानी भी मेरे आत्माका शत्रु या

मित्र नहीं हो सक्ता। जगतमें मित्रता या शत्रुता वास्तवमें शरीरादि आत्मासे भिन्न जो पदार्थ है उनके साथ लोग करते हैं आत्माके साथ नहीं और तत्त्वज्ञानी अपनेको ज्ञानस्वरूप आत्मा समझता है और उसीकी ज्ञान, सुख, वीर्य्य आदि सत्सपदाकी रक्षा करता है। क्योंकि शरीरादि पर पदार्थके शत्रु किसीकी आत्माका कुछ भी बिगाड नहीं कर सक्ते इससे वह तत्त्वज्ञानी निश्चित रहता है और जिन क्रोधादि कषायोंके उद्रेकसे अपने आत्मगुणोंमें कलुषता होना जानता है उनको आप अपने आत्मबलसे निरोध करके परम सुखी रहता है। रागद्वेषका कारण मोह है। जिसको निजात्माके स्वभावमें पूर्ण प्रीति व तन्मयता होजाती है उसके मोहके जानेसे रागद्वेष नहीं होते वह न किसीसे प्रीति करता है न किसीसे द्वेष, क्योंकि उसने आत्माके अतीन्द्रिय सुखकी जातिको भी जाना है इससे उसकी इन्द्रिय विषयोंमें लालसा नहीं रहती है इसीसे इन्द्रिय विषयोंके उपकारी देह स्त्री पुत्रादिमें न मोह होता है न उनके अपकारी किसी शत्रुपर द्वेष होता है। इस तरह आचार्यने यहां द्वेषभावकी जड काटनेका उपदेश दिया है कि कभी भी अपकारकर्ता पर भी आत्महित बांधकको अप्रीति भाव न करना चाहिये।

दोहा—अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध।
दो पग त्र्यागुल गहिनमें आपहि गिरत अबोध ॥ १० ॥

उत्थानिका—अब यहां शिष्य गुरुसे फिर प्रश्न करता है कि स्त्री पुत्रादिकोंमें राग और शत्रुओंमें द्वेष करनेवाला अपने आत्माका क्या अहित करता है? जिस कारणसे रागद्वेष न

करनेका उपदेश दिया जाता है। इसीका आचार्य आगे समाधान करते हैं-

श्लोक-**रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा।**
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ॥११॥

सामान्यार्थः-रागद्वेष मई बड़ी नेतरीके आकर्षणरूपी क्रियाके द्वारा अज्ञानसे यह जीव दीर्घ काल तक संसारसमुद्रमें भ्रमण किया करता है।

विशेषार्थ-(जीवः) यह चेतन आत्मा (अज्ञानात्) अज्ञानके कारणसे अर्थात् देह आदिकोंमें आत्मापनेका भ्रम करलेनेसे (रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा) रागद्वेष - मई बहुत बड़ी डोरी जिससे दूध मथकर मक्खन निकाला जाता है उसकी आकर्षण क्रियासे अर्थात् रागद्वेषद्वारा कर्म बंध होनेसे (ससाराब्धौ) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव रूप पाच परिवर्तन रूप संसारसमुद्रमें जिसका तरना बहुत कठिन है तथा जो दुःखोंका कारण है उसमें (सुचिरं) बहुत लम्बे समय तक (भ्रमति) घूमता रहता है। इष्ट पदार्थोंमें प्रीतिको राग तथा अनिष्ट पदार्थोंमें अप्रीतिको द्वेष कहते हैं-इन दोनोंकी एक समय प्रवृत्ति प्रगट करनेके लिये द्वयी शब्दका ग्रहण है वह इस तरह पर होती है कि जब राग परिणामोंमें व्यक्त होता है तब शक्ति रूपसे द्वेष रहता है। जब द्वेष व्यक्त होता है तब राग शक्ति रूपसे रहता है। प्रगटताकी अपेक्षा एक समय नहीं है। किन्तु वासनामें जब एक प्रगट है तो दूसरा अवश्य रहता है। ऐसा ही कहा है-

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।
उभावेतौ समालंब्य विक्रमत्यधिकं मनः ॥ ”

भाव यह है जहां राग अपना पैर धरता है वहां द्वेष अवश्य होता है यह बात निश्चयसे है। इन दोनोंके आलम्बनसे ही मन अधिक चलायमान रहता है। और जितने दोष हैं वे सब रागद्वेषके आधीन हैं। ऐसा भी कहा है—

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपर विभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते ॥

भाव यह है कि किसी वस्तुको अपना करनेसे यह खयाल आता ही है कि अमुक वस्तु अन्य है मेरी नहीं है इस तरह अपने और दूसरेका भेद भाव होनेसे रागद्वेष होजाते हैं। और इन दोनोंके आश्रयमें बंधे हुए सर्व दूसरे दोष पैदा होजाते हैं—

जैसे दीर्घ नेतरीकी रस्सीका खिंचना मंथके दंडके भ्रमण करनेका हेतु है वैसे ही जीवका रागद्वेष आदि रूप परिणमना जीवके संसार भ्रमणका हेतु है। यहां लौकिकमें प्रसिद्ध एक दृष्टांत है कि जब नारायणने समुद्रको नेतरीसे मंथन किया तो मथाचल नामा पर्वतको जिससे समुद्रको मथा था बहुत काल तक भ्रमण करना पड़ा था उसी तरह आत्मा और परके विवेकका ज्ञान न होनेसे जो पैदा होते हैं रागद्वेष आदि परिणाम उसके कारणसे अथवा कारणमें कार्यका व्यवहार करनेकी अपेक्षा उस रागद्वेषसे बांधे हुए कर्म बंधसे यह संसारी जीव अनादि कालसे संसारमें भ्रमता आया है, भ्रमता है और भ्रमण करेगा। जैसा कि कहा है—

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवादे गदि सुगदी॥ १॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंति।
ते हि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥ २॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहि भणियं अणाइणिहसणिण हुण्णे वा।" ॥३॥

भाव यह है कि जो कोई संसारी जीव है उसके रागद्वेषादि परिणाम होते हैं, उन भावोंसे कर्मोंका बंध होता है और कर्मोंके उदय आनेपर दुर्गति या सुगति प्राप्त होती है। गतिमें जानेसे देह प्राप्त होती है, देहके होनेसे इद्रिया पैदा होती हैं। उन इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। उनसे फिर राग और द्वेष हो जाते हैं–इस तरह इस जीवका संसारचक्रमें भ्रमण हुआ करता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। यह संसार भ्रमण अभव्योंके लिये अनादि अनत कालतक व निकट भव्योंके अनादि सांत कालतक रहता है अर्थात् जो मुक्ति करने वाले हैं उनकी अपेक्षा भ्रमण सांत है अन्यथा अनंत कालतक रहता है।

भावार्थ–यह आचार्यने यह दिखलाया है कि उपकारी व इष्ट पदार्थोमें जो राग तथा अनुपकारी या अनिष्ट चेतन अचेतन पदार्थोंमें जो द्वेष होता है। इन अज्ञान रूप ममत्त्वभावके कारणसे पैदा होनेवाले रागद्वेषोंसे इस जीवको नाना प्रकार कर्मोंका बंध होता है उन्हीं कर्मोंके बंधके फ़लसे नर्क, पशु, मनुष्य या देवगतिमें जाकर पहुचता है वहा कोई न कोई शरीर पाकर उसमें इंद्रियों द्वारा फिर पदार्थ ग्रहणकर रागद्वेष करता है–फिर

कर्म बांधता है–इस तरह जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है ऐसे ही अनादि कालसे रागद्वेष और कर्मबंधकी परिपाटी चली आई है। यही संतति जन्म मरण जरा रोग शोक आदि अनेक दुःखोंकी मूल कारण है। यहां पर दृष्टांत मथानीका दिया है कि जैसे मथानीकी रस्सीके खिंचनेसे लकड़ी घूमा करती है–उसे चैन नहीं पड़ती है अथवा एक दफे मंदराचल पर्वतको चिरकाल समुद्रके मथनमें फिरना पड़ा था ऐसी कथा हिंदुओंके पुराणोंमें है वैसे ही रागद्वेषकी बनी हुई रस्सीने इस जीवरूपी लकड़ीको संसार समुद्रमें चिरकालसे भ्रमण कराया है, व जब तक रागद्वेषका अभाव न होगा तब तक इस जीवका भ्रमण न मिटेगा। क्योंकि इस रागद्वेषका बाहरी निमित्त स्त्री पुत्रादिक और शत्रु आदि हैं–इसलिये आचार्यने ऊपरके श्लोकोंमें यह दिखलाया था कि जो लोग स्त्री पुत्रादिको हितकारी और शत्रु आदिको अहितकारी मानते हैं वे लोग अज्ञानी हैं उन्हें आत्मा और अनात्माके स्वरूपका ठीक २ ज्ञान नहीं है। वास्तवमें मिथ्यादृष्टी बहिरात्माके ही अज्ञान भाव और उसके कारण संसारवर्द्धक रागद्वेष होता है जो कर्मोंके बंधका कारण है। अज्ञानीकी चेष्टा संसारके पदार्थोंमें किस तरहकी होती है इसीको आचार्य्यने **समाधिशतकमें** इस तरह बताया है–

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥ ४२॥

भाव यह है कि जिस अज्ञानीके शरीरमें आत्मपनेकी बुद्धि होती है अर्थात् जो शरीर ही को आत्मा करके मानता है और

इसी लिये इन्द्रियोंके विषयोंके सुखमें रंजायमान है वह यही इच्छा करता है कि शरीर सदा सुन्दर रहे और मनोहर २ इद्रिय विषयके पदार्थ भोगनेको प्राप्त हों। परन्तु जो तत्त्वज्ञानी है वह शरीरसे और इन्द्रिय विषयोंके पदार्थोंसे छुटना चाहता है।

रागद्वेष आपेक्षिक है इससे जहा राग है वहां द्वेष अवश्य रहता है। यदि अपनी स्त्रीसे राग है व अपने धनसे राग है तब परकी स्त्रीसे व परके धनसे विराग व द्वेष है। यद्यपि इनका व्यक्त कार्य साथ साथ नहीं होता। क्योंकि कषायोका उदय फल रूपसे एक एक समयमें एक एक ही होता है। जब क्रोध तब लोभ नहीं, जब माया तब मान नहीं, जब माया तब लोभ नहीं, जब क्रोध तब मान नहीं।

परंतु यह बात तो निश्चित है कि जब कोई पदार्थ इष्ट होगा तब दूसरा अनिष्ट जरूर होगा। इसलिये मोही जीव सदा संसारमें भ्रमण किया करता है।

दोहा—मथत दूध डोरीनिते, दड फिरत बहुवार।
रागद्वेष-अज्ञानते, जीव भ्रमत ससार ॥ ११॥

उत्थानिका—अब शिष्य फिर पूछता है कि हे भगवन्! यह जीव मोक्षमें तो सुखी रहता ही है परतु यदि संसारमें भी सुखी रहे तो क्या दोष है। तब ससारको दुष्ट व त्याज्य क्यों कहना चाहिये? और सर्व जीव सुखकी ही प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। वह जब संसारमें भी मिले तो क्यों सत पुरुष इस संसारके छेदके लिये यत्न करते हैं इस शंकाका समाधान आचार्य करते हैं—

श्लोक-विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः॥१२॥

सामान्यार्थ-संसार रूपी पैरसे चलनेवाले घटी यन्त्रमें जबतक एक विपत्ति रूपी पदिका अर्थात् पगसे चलाये जानेवाली लकड़ी उल्लघन की जाती है तबतक अन्य बहुतसी विपत्तियां सामने आजाती हैं--इस संसारमें विपत्तियोंका अत होना कठिन है।

विशेषार्थ-(भवपदावर्ते) संसार रूपी पगसे चलाए जानेवाले घटी यंत्रमें, अर्थात् ऐसे संसारमें जो घटी यन्त्रके समान वार वार हिर फिरके चक्कर रूप घूमता है, (यावत्) जबतक इस जीवके द्वारा (विपत्) सहज अकस्मात् आई हुई शारीरिक, मानसिक आपत्तियोंके मध्यमें एक कोई विपत्ति (पदिका इव) घटी यन्त्रमें पैरसे चलाए जानेवाली लकडीके समान (अति वाह्यते) अतिक्रमण की जाती है-हटाई जाती है (तावत्) इतने ही में (अन्या.) दूसरी (प्रचुराः) बहुतसी (विपदः) आपत्तिया (पुर) इस जीवके सामने (भवंति) आ जाती है।

(यहां टीकाकारने एक दृष्टात दिया है जिसके वाक्य ठीक समझमें नहीं आए वे ये हैं "का इव काष्ठिकस्येति सामर्थ्यदुर्व्या" दूसरी प्रति न होनेसे पाठको मिलान न कर सके सो विद्वज्जन ठीक कर लें।)

इसलिये हे शिष्य! यह जानो कि संसारमें निरंतर एक न एक विपत्ति रहती है जो मात्र दु खको ही देनेवाली है इसलिये इस संसारका अर्थात् पंच परिवर्तन रूप भ्रमणका अवश्य नाश कर डालना चाहिये।

भावार्थ—यहा आचार्यने इस ससारको आपत्तियोंका घर बताया है सो बहुत ठीक है। यदि मनुष्य अवस्थाको देखा जायगा तो भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, डांस, मच्छर, रोगादिके दु ख निरंतर शरीरमें रहा करते हैं तथा इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, पीड़ा, निदान, ईर्षा आदिके कारण अनेक मनमें चिन्ताए रहा करती हैं। कोई धन विना दु:खी है, कोई धन होनेपर पुत्र विना दुखी है, कोई कुपुत्र होनेपर दुखी है, कोई आज्ञाकारिणी स्त्री न होनेसे दु खी है, कोई शरीरमें रोगकी पीडासे दु:खी है, कोई पुत्र वियोग, कोई स्त्री वियोगसे दु खी है, कोई धनके नाशसे दु खी है, कोई वृद्धावस्थासे दु खी है, कोई शरीरकी निर्बलतासे दु:खी है, किसीके भाई वैरीके समान वर्तन करते है इससे दु खी है, कोई राज्य द्वारा कष्ट पानेसे दु खी है, कोई दुष्काल पड़नेसे दु खी है, कोई वस्त्र विना दुःखी है, कोई बहुत पुत्र पौत्र कुटुम्बवान होकर भी पैसा न मिलनेसे व उनके निरतर रोगाक्रात होनेसे दु खी है, कोई मनमें चाहे हुए इन्द्रियोंके भोग न मिलनेसे दु:खी है, किसीको भोग सामग्री होनेपर भी इन्द्रिया उन्हें भोग नहीं सक्ती है इससे दु खी है, कोई शत्रु द्वारा पीडित है उसे वश नहीं कर सक्ता इससे दु:खी है, कोई अकस्मात् अग्निमें जलकर, नदीमें डूबकर, गाडीसे पड व दबकर महा दुखी हो जाता है, कोई एक दूसरेसे ईर्षाभाव करके दुःखी है, कोई धनादिकी वृद्धिकी चितासे दु:खी है इत्यादि सर्व ही मनुष्य अनेक व एक दु खसे हर समय पीडित रहते हैं। कोई भी संसारी मनुष्य सर्वथा सुखी नहीं मिल सक्ता। [बडे बड़े, चक्रवर्ती

भी भोग तृष्णाकी आकुलतासे दुःखी रहे है। जब तक यह मनुष्य ससारमें आशक्त है, खाने, पीने, पहरने, ओढने, नाच, कूद, खेल तमाशे आदि इन्द्रियोंके भोगोंमें रंजायमान हो रहा है तथा जब तक इसको ससारसे वैराग्य और आत्मज्ञानका रोचक भाव नहीं है तब तक यह मनुष्य कौनसी भी वाहर अच्छी देखनेवाली दशामें रहे। परंतु वह कोई न कोई शरीर व मनकी पीड़ासे अवश्य दुःखित है। यदि तिर्यंचगतिकी दशा पर ध्यान दिया जाय तो प्रगट होता है कि वहां वहुत ही भयानक दुःख है जिनसे वहुत कम दरजे कष्ट मनुष्य जन्ममें हैं। एकेन्द्री मात्र स्पर्शसे विषय ग्रहण करनेवाले पृथ्वीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक वृक्ष आदि अत्यन्त निर्बल है। इनको स्पर्शद्वारा कुटने, मरोड़ने, टक्कर खाने, कुचले जाने, रोके जाने, वुझाए जाने, दवाए जाने, काटे जाने, छीले जाने, तोडे जाने, पाला लग जाने, पवनसे टकराकर अग्निमय हो जल जाने, तूफानसे गिरजाने आदिके महा कठोर दुःख विना कहे भोगने पड़ते है। सर्व शरीर धारी प्राणियोंके भोगोपभोगमे ये एकेन्द्री प्राणी आते हैं। इनके विना आधारके कोई जी नहीं सक्ता। इस लिये इनकी भारी हिंसा करनी पड़ती है। द्वेन्द्री जीव जो केचुआ, लट, संख, कौडी आदि हैं। स्पर्श और रसना दो इंद्रियोंके विषय ग्रहण करनेकी लालसामें कोई कुचलकर, कोई दबकर, कोई पानी विना तडफ २ कर कोई अग्निमें जलकर, कोई अन्नादिमें पड इधर उधर बहकर वहुत कष्टसे जीते तथा मरते हैं। तेन्द्रीजीव कुन्थु, चींटी, बिच्छू, घुण, खटमल, जूँ, आदि

स्पर्श, रसना तथा घ्राण इन्द्रियोंके विषयोंमें पड़े हुए उनकी पूर्तिके लिये दुःखी रहते, अनेक वस्तुओंके नीचे दब कर मरते, मारे जाते, पानीमें बह जाते, बडे जंतुओंसे खाए जाते-आदि महान वेदना-ओंसे पर्य्याय पूरी करते है। चौन्द्री जीव-भौंरा, कीटक, डांस, मच्छर, मक्खी, भिड, पतंगे आदि। स्पर्श, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रियोंके विषयोंके आधीन हो उनकी पूर्तिके लिये परेशान हो घूमते, मनके विना विचारकी तर्कना न होनेसे कमलमें बंद हो मर जाते, अग्नि व दीपकमें जलकर मर जाते, घी, दूध आदि चिकनी वस्तुमें पड़कर मर जाते, बडे जंतुओंसे सताए जाते, गर्मी, सर्दी, बर्षातकी भयानक वेदना सहते बडे दुःखसे पर्य्याय पूरी करते है। पचेन्द्री असैनी जीव जिनके नाम किसी ग्रंथमें देखनेमें नहीं आए किन्तु सुननेमें आया है कि नदीमें रहनेवाले कोई जातिके सर्प, व जंगलमें सम्मूर्छन पैदा होनेवाले तोते व खेतोंमें सम्मूर्छन पैदा होनेवाले मूषक विना मनके स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण इन पाचों इन्द्रियोंके आधीन हो उनकी पूर्तिमें कष्ट उठाते व दुःखसे ही आयु पूरी करते है। पचेन्द्री सैनी तिर्यंच थलचर-हिरण, बकरा, गाय, भैंस, बैल, घोडा, कुत्ता, बिल्ली, शेर, गैंडा, चीता आदि, जलचर-मछली, मच्छ, मगर आदि; नभचर-कबूतर, तीतर, बाज, कोयल, कौवा, आदि। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र इन्द्रियोंके वशीभूत हो व मनकी कल्पनाओंमें फंस उन विषयोंकी पूर्तिके बिना तथा भूख, प्यास, गर्मी, सर्दीसे पीड़ित हो महा कष्ट उठाते है। किन्हींको बहुत बोझा लादना पडता, धूपमे भी कोड़ा खाते खाते चलना पडता, शिकारियोंके

द्वारा मरना पड़ता, जालमें फसना पड़ता, पानी बिना तड़फ तड़फ कर मरना पड़ता इनके कष्ट महा विकराल हैं इस तरह तिर्यंच गतिमें यह जीव महान दुःख भोगता है।

वनस्पतिकाय हीमें दो भेद हैं—प्रत्येक, साधारण। जिस वनस्पतिमें एक जीव उस शरीरका स्वामी हो उसे प्रत्येक व जिसके अनंत जीव स्वामी हों उसे साधारण वनस्पति कहते हैं। साधारण वनस्पतिवालोंको ही निगोद संज्ञा है, ये अनंत जीव एक साथ पैदा होते, मरते, श्वास लेते व कष्ट उठाते हैं। बहुतसी प्रत्येक वनस्पति जिनके आश्रय साधारण वनस्पति याने निगोद होती है उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है—और जब उनमेंसे निगोद निकल जाती तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

साधारण सहित प्रत्येककी पहचान यह है कि जिनका सिर गूढ हो, मालूम न पडे, संधि दिखलाई न पडे, जिनकी गाठ गूढ हो, व जो तोडनेसे समभग हो जाय, त्वचा या छालका संबंध न रहे, जिनके भीतर सूत्र या तार न हो व जो तोडनेसे फिर बोई जा सकें सो सब साधारण सहित है—इन लक्षणोंसे जो रहित हो वह अप्रतिष्टित प्रत्येक है।

संसारी शरीरधारी १२ बारह जीव समास रूप हैं—जैसा श्री नेमिचंद सिद्धात चक्रवर्तिने कहा है—

गाथा—समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादर सुहमे इन्दिय सव्वे पज्जत्त इदरा य॥

पंचेन्द्री सैनी, पचेन्द्री असैनी, चौन्द्री, तेन्द्री, द्वेन्द्री बादर

एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय ये सात भेद हुए ये सात पर्याप्त और अपर्याप्त भेदसे चौदह प्रकार हैं। जो एकेन्द्रिय जीव शरीर धारते ही अतर्मुहूर्तमें आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास इन चारोंके बननेकी योग्यताको; द्वेन्द्रियसे असैनी पंचेन्द्रिय तक भाषाको लेकर पाचके बननेकी और सैनी पंचेन्द्रिय मनको भी लेकर छहोंके बननेकी योग्यताको प्राप्त कर लेते है उन्हें पर्याप्त तथा जो ऐसी योग्यता विना प्राप्त किये हुए ही मर जाते हैं उन्हें अपर्याप्त कहते हैं। ऐसे अपर्याप्त जीव एक श्वांसमें १८ वार जन्म मरण करते हैं अर्थात् एक अंतर्मुहूर्तमें ६६३३६ जन्म धारते है। यहा श्वाससे प्रयोजन नाडीके चलनेसे है जो एक मुहूर्त या ४८ मिनिटमें ३७७३ दफे चलती है।

इन अपर्याप्त जीवोंको जन्म मरणका बहुत अधिक कष्ट भोगना पडता है। सिवाय कुछ सैनी पर्याप्त अपर्याप्तके शेष सर्व जीव तीर्यंच गतिमे होते हैं। मनुष्य नारकी और देव सर्व सैनी होते हैं। अपर्याप्त दशामें मरनेवाले मनुष्योंमें ही होते है। देव नारकीमें नहीं। देव नारकी यद्यपि अतर्मूहूर्त पर्याप्ति की पूर्णतामें लगाते हैं परन्तु उनके पर्याप्ति नाम कर्मका ही उदय होता है इससे वे पर्याप्त अवश्य होते है। दीर्घकाल तक ससारी प्राणियोंको बारबार तिर्यंच गतिमें जन्म ले लेकर मरना जन्मना व दु ख उठाना पडता है।

नारकी जीव नरकमें सागरों पर्यंतकी बडी २ आयु पाते, दुःखमय संयोगोंमें रहते हुए परस्पर माड धाड क्रोध करते हैं। महान रोगोंसे पीड़ित होते है, वार वार छिदते, कटने, भिदने हैं पर पारावत शरीर फिर वैसा ही हो जाता है। विना आयु पूरी

किये मर नहीं सके। उन्हें भूख, प्यास, गर्मी, सर्दीकी महावेदना भोगना पड़ती है। भूखे हो नर्ककी पृथ्वीकी मिट्टी खाते है पर उससे तृप्ति जरा भी नहीं होती है।

देवगतिमें यद्यपि शारीरिक दुःख नहीं है क्योंकि देवोंके रोग आदि नहीं होते है तौ भी मानसिक दुःखोंसे वे भी महासतप्त रहते है। देवोंमें इन्द्रसे लेकर नीचेके बहुतसे बड़े छोटे पद हैं। छोटे पदवाले बडोंको देखकर ईर्षा भाव करते हैं। तथा देवियोंकी आयु बहुत छोटी होती है और देवोंकी आयु बडी होती है। इससे देवोंको देवियोंके वियोगका कष्ट भोगना पड़ता है। चारों ही गतिमें मिथ्यात्वके कारण यह जीव दु ख उठाता और भ्रमण किया करता है। परिवर्तनका साधारण प्रकार यह है कि कोई जीव नित्य निगोदसे बडी कठिनतासे निकलता है—तब स्थावर कायोंमे दीर्घकाल तक घूमता हुआ बड़ी कठिनतासे द्वेन्द्री, फिर तेन्द्री, फिर चौन्द्री, फिर पचेन्द्री पशु होता है—वहासे भी बडी मुश्किल से मनुष्य होता है कुछ साधारण पुण्य बाधके देवगतिमें चलाजाता है। वहा मोह सहित परिणामोंसे मर फिर पशु या एकेन्द्री तिर्यंच हो जाता है। क्रूर पशु होकर पाप बांध नर्कमें चला जाता है। अथवा देवगतिसे आकर मनुष्य हो पाप करके नर्क चला जाताहै। नर्कसे निकल फिर पशु या मनुष्य होता है। यहा फिर भारी पाप कर निगोद पर्यायमें चला जाता है। निगोदमें दीर्घकाल रह कर बड़ी कठिनतासे फिर पृथ्वी आदिमें आता है—इस तरह यह जीव संसार घटीयंत्रके परिवर्तनके समान घूमा करता है।

ऐसे संसारके भीतर घूमते हुए जीव अधिकतर क्लेश ही

उठाते हैं । मनुष्य पर्यायकी अपेक्षा आचार्य शिष्यको समझाते हैं कि इस अवस्थामें भी इतनी विपत्तिया सामने बनी रहती हैं कि एक आपत्तिको हटाते है तब दूसरी आपत्ति आजाती है। सो प्रत्यक्ष ही प्रगट है।

किसीके पुत्र रोगी है जब अच्छा हुआ तब स्त्री बीमार हो गई, वह अच्छी न होकर मर गई, पुत्रोंके पालनका भार पड़ गया इतनेमें आप रोगी हो गया। बडी कठिनतासे अच्छा हुआ। व्यापारमें इकदम नुकसान हो गया। इस तरह एकके पीछे दूसरी विपत्ति आती रहती है। और आयु समाप्त होते होते जरा सताने लगती है-फिर एक दिन आपत्तियां झेलता झेलता ही मरजाता है। जब यह संसारवास दुःखका घर है तब यहां सुख कहां ऐसा आचार्यने शिष्यको समझाया है।

दोहा-जब तक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय ।
पदिका जिम घटियन्त्रमें, वार वार भरमाय ॥ १२ ॥

उत्थानिका-आगे शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन्! सर्व ही संसारी प्राणी विपत्तिमें फंसे नहीं है। संपत्तिवान् भी कोई कोई दिखलाई पड़ते हैं। उनको सुख तो मानना ही चाहिये। आचार्य इसीके निराकरणमें कहते हैं-

श्लोक-दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

सामान्यार्थ-दुःखसे कमाने योग्य, बड़े कष्टसे रक्षा करने योग्य तथा नाश होनेवाले धन आदि द्रव्यसे जो कोई भी मनुष्य

अपनेको सुखी व स्वस्थ मानता है वह उसी मूर्खजनके समान है जो ज्वरसे पीड़ित होने पर भी घी खाकर अपनेको स्वस्थ मानें। अर्थात् घीसे ज्वरवान् और अधिक कष्ट पाएगा,-इसी तरह धनादिसे भी तृष्णावान्को दुःख ही होगा।

विशेषार्थ-(कोऽपि जनः) कोई भी विवेक रहित अज्ञानी मनुष्य न कि सर्व ही (दुरर्ज्येन) बहुत हानि सहकर व दुर्ध्यानकरके महादुःखसे पैदा किये हुए व पाए हुए, तथा (असुरक्षेण) कठिनतासे रक्षा किये जानेवाले अर्थात् रक्षा किये हुए भी इनमें अवश्य विघ्न आजाता है इससे दुःखसे बचाने योग्य और (नश्वरेण) क्षणभंगुर अर्थात् रक्षा करते हुए भी अवश्य नष्ट होजानेवाले ऐसे (धनादिना) द्रव्य, स्त्री आदि इष्ट वस्तुओंसे (स्वस्थं मन्यः) मैं सुखी हूं ऐसा माननेवाला (ज्वरवान्) कोई भी मूर्ख सामज्वरसे पीड़ित (सर्पिषा) घी खाकर (इव) जैसे अपनेको रोग रहित मानता है वैसे अपनेको सुखी मानता है। इसलिये हे शिष्य! समझ कि ऐसे दुःखसे कमाने योग्य तथा रक्षित रहनेवाले और विनाशीक धन आदि पदार्थोंसे दुःख ही होगा। कहा भी है:-

"अर्थस्योपार्ज्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥"

भाव यह है कि द्रव्यके उपार्जनमें दुःख होता है फिर कदाचित् पैदा हो जाय तो उसकी चोर आदिसे रक्षा करनेमें दुःख होता है। फिर धनके आनेमें दुःख होता है क्योंकि इच्छानुसार नहीं आता है कम आता है फिर खर्च करती समय दुःख होता है कि कहीं घट न जाय इसलिये इन धनको धिक्कार हो जो दुःखका स्थान है।

भावार्थः—यहा पर आचार्यने यह बताया है कि इस जगतमें विपत्ति गृसित तो अधिक प्राणी हैं जो थोडे संपत्तिवान दीखते हैं वे भी सुखी नहीं है। जिस द्रव्य, स्त्री आदि इष्ट पदार्थोंकी प्राप्तिमें लोग सुखी माने जाते हैं, उन पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये बहुत चिन्ताएं, बहुत कष्ट, बहुत परिश्रम करने पड़ते हैं, दूर देशांतरमें कुटुम्ब छोड़ जाना पड़ता, समय पर खाना पीना नहीं मिलता, समुद्रमें यात्रा करनी पड़ती, गर्मी सर्दीके संकट व कहीं नौकरी करके पराधीनताके असह्य दुःख सहने पडते, कृषक लोगोंको धूपकी तपसमें खेतोंको जोतना सीचना, रखना व काटना, बीनना पड़ता, व्यापारीको माल बनवाना तौलना, नापना, देश परदेश भेजना, जोखम सहना, ढ़ोकर ले जाना पड़ता, हिसाबकर्ता लेखक मुनीमोंकी घटों बैठकर हिसाब जोडना वही खाता तय्यार करना, व चिट्ठी पत्री हुंडीके प्रबधका विचार करना पडता, राजाओंको व राज्यके कर्मचारियोंको देशकी रक्षा, शत्रुका क्षय आदि कार्यमें बहुत दुःखसे उपाय करना पड़ता, समय पडने पर रणक्षेत्रमें जाकर युद्ध करके प्राण देने पडते, भूख प्यास सहनी पड़ती, अधमरे व घायल होकर महान् कष्ट भोगने पडते, कारीगरोंको लकडी, लोहा, सोना, चादी, मकान आदिकी तैयारी के अनेक काम भारी परिश्रमसे बनाने पड़ते, इस पैसेके वास्ते नीच लोगोंको नाच गाकर कला बताकर दीनता करके अपनी मान मर्यादा बिगाड कर अपमान सहने पडते। विचारनेसे यह बात अच्छी तरह अनुभवमें आ जायगी कि पैसा पैदा करनेके लिये कितना दुःख उठाना पड़ता है। चाहते तो यह हैं कि थोड़ी

मिहनतसे बहुत द्रव्यादि प्राप्त होजाय पर परिश्रम बड़ा करके भी बहुत कम द्रव्य मिलता है। इच्छित स्त्री आदि पदार्थोंके लिये बहुत कष्ट करने पडते हैं। इत्यादि पर पदार्थोंके वास्ते बहुतसे कष्ट उठाने पड़ते तब भी इच्छित लाभ नहीं होता इससे दुःख होता है। यदि इच्छित लाभ हो जाय तो तृष्णा तुर्त बढ़ जाती है कि और अधिक अब मिलना चाहिये बस दुःखकी शृंखला जारी हो जाती है।

इसी तरह द्रव्यादि पदार्थोंकी रक्षा बडी कठिनतासे करनी पडती है अनेक नौकर चाकर रखने पडते, बहुत अच्छी तरह अलमारियोंमें वद करने पड़ते फिर भी चिन्ता रहती कि कहीं चोर डाकू न छीनलें, कहीं रकमें डूब न जावें, कहीं नौकर लोग ही वेईमान होकर द्रव्यको न निकाललें, कहीं राजा क्रोधित होकर न छीन लेवे, कहीं अग्नि न लगजावे इत्यादि महान् दुःख व कष्ट द्रव्यादिकी रक्षामें उठाने पडते हैं। इतनी रक्षा करते हुए भी सैकड़ों विघ्न आजाते हैं जिनसे द्रव्यका नाश होता है, स्त्री बीमार हो जाती है, अथवा मरण कर जाती है, मकान गिर पडता है शरीरमें चोट लग जाती है, पुत्र जाता रहता है इत्यादि यदि महान कष्टसे द्रव्यादिकी रक्षा भी की तो भी वे सब विनाशीक हैं, सदा स्थिर नहीं रहते या तो हम ही आयु पूरी होने पर छोड़ कर चले जाते या वे ही हमारा पुण्य न रहनेसे हमसे अलग हो जाते हम धनवान निर्धन होजाते, स्त्री रहित होजाते, पुत्र रहित हो जाते, घरबार रहित हो जाते। इसके सिवाय इन द्रव्यादि पदार्थोंके रहते हुए

कभी मनमें संतोष नहीं होता, उल्टा लोभ व मान बढ़ जाता है। ये पदार्थ कम न हो उल्टे बढ़ते रहें ऐसा लोभ हर समय सताता है तथा हम इतने धनादिके स्वामी हम बड़े और ये दीन निर्धन गरीब हमसे छोटे हैं, इसतरह हमारा मन सदा दुःखी रहता है। इस लोभ मानके वशीभूत हो हम कठोर परिणाम रखते, धर्मकार्यमें व आहार, औषधि, अभय व विद्यादानमें धनको लगाते नहीं। यदि कोई मांगता है तो मनमें बड़ा कष्ट होता है, किसी तरह दबावसे देते हुए परिणाम महा संतापित होजाते हैं। स्त्री पुत्रादि यदि इच्छानुकूल नहीं वर्तन करते हैं तो महान क्लेश रहता है, यदि इच्छानुकूल चलते हैं तो वे अपने मोहमें फंसाकर यदि वे रोगी होते महान चित्तमें खेद होता है, यदि वे मर जाते हैं तो अपना जीवन निःसार मालूम पडता है। आचार्य कहते हैं हमने अच्छी तरह विचार लिया कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीव सदा इन पर पदार्थोंके निमित्तसे चिंतित, आकुलित तथा दुःखित रहते है। और मानते यह हैं कि हम सुखी रहते हैं सो ऐसा मानना बिलकुल भोलापन व मूर्खपन है। जैसे कोई ज्वरसे पीड़ित हो और घी खानेसे अपनेको सुखी होना माने तो उसकी मात्र मूर्खता है। घीके खानेसे ज्वरका कष्ट बढ़ेगा, घटेगा नहीं, इसीतरह मोह रूपी ज्वरसे पीड़ित यों ही दुखी हैं फिर जब धनादि पर पदार्थ आजाते हैं तब तो और अधिक मोही होकर आकुलित चिंतित तथा व्यथित होजाता है। इसवास्ते धनादिसे ऐसा मानना कि मैं सुखी हो जाऊंगा, मेरे दुःख मिट जावेंगे सो मात्र मूर्खता है। इसलिये जो कोई लोकमें संपत्तिवान्

भी दीखते हैं वे भी दूसरेको सुखीसे मालूम पड़ते हैं पर उनके चित्तके मर्मको वे ही जानते है कि उनको कितने दुःख हैं व कितनी आकुलताए हैं। इच्छित पदार्थोंका लाभ जब साता वेदनीय आदिके उदयसे होताहै तब कुछ सातासी कुछ देरके लिये होजाती है परतु तृष्णा बढ जानेसे फिर चित्त आकुलतामें फंस जाता है, ऐसा ही अनुभव करके जो कोई ज्ञानी सम्यग्दष्टी हो जाते हैं वे अपनी पिछली मूर्खतापर बहुत पश्चाताप करते हैं। और फिर इस विचारमें लगजाते हैं जैसा श्री समाधिशतकमें कहा है:—

> न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमंकरमात्मनः ।
> तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥
> जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव वा ।
> स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क विश्वासः क वा रतिः ॥४९॥

भाव यह है कि इस जगतमें जो बात इस आत्माको कुशल-क्षेम करनेवाली हो सो कोई भी इन इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंमें नहीं है तौ भी अज्ञानी जीव अपनी चिरकाल वासित अज्ञानकी भावनासे इनहीमें रमण किया करता है। देहको ही आत्मा श्रद्धा करनेवाले लोगोंको ही यह जगतके पदार्थ विश्वासपात्र व रमणीक भासते हैं परंतु जिनकी श्रद्धा आत्माके स्वभावमें ही आत्मापनेके माननेकी हो जाती है उनका इन पदार्थोंमें कहां विश्वास व कहां उन्हें इनका रमणीक भासना। अर्थात् उन्हें ये पदार्थ न मनोहर भासते और न चिरस्थायी मालूम पड़ते, उल्टे विनाशीक व क्षणभंगुर दीखते जिससे ज्ञानी जीव उनमें थिरपनेका

कभी विश्वास नहीं करते इससे वे उन द्रव्यादि पदार्थोंसे वियोग पाने पर भी क्लेशित नहीं होते। भाव यही समझना चाहिये कि सर्व दुःखोंका मूल अज्ञान और मोह है और सर्व सुखोंका मूल सम्यग्ज्ञान और निर्ममत्व है। अज्ञानी इस भेदको न जानकर जो द्रव्यादि संपत्तिसे अपनेको सुखी मानता है उसके अज्ञानको यहां आचार्यने छुडाया है।

दोहा—कठिन प्राप्य अरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि।
इनसे सुखकी कल्पनां, जिम घृतसे ज्वर व्याधि ॥ १३ ॥

उत्थानिका—अब शिष्य फिर प्रश्न करता है कि जब धनादि इस प्रकार इस लोकमें भी दुःखदाई है और परलोकमें भी मोहजन्य पापसे नर्क पशु गति आदिके दुःख देते हैं। तब लोग क्यों नहीं इन धनादि संपत्तियोंका त्याग करते हैं। इसका मुझे बड़ा आश्चर्य है। अब गुरु इसका उत्तर कहते हैं.—

श्लोक—विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णे वनांतरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

सामान्यार्थ—अज्ञानी दूसरोंके समान अपने ऊपर विपत्ति जो आनेवाली है उसे नहीं विचारता है जैसे जलते हुए पशुओंसे भरे हुए वनके मध्यमें वृक्षके ऊपर बैठा पुरुष जलते हुए पशुओंकी विपत्तिको तो देखता है पर अपनी विपत्तिको नहीं देखता कि थोड़ी देरमें आग इस वृक्षको जलादेगी और मैं भी भस्म हो जाऊगा।

विशेषार्थ—(मूढ़ः) धन आदिकी आसक्तिसे जिसका

विवेक जाता रहा ऐसा कोई अज्ञानी मनुष्य (परेषाम् इव) दूसरोंको चोर आदिसे प्राप्त धन-हरण आदि आपत्तियोंके समान (आत्मन) अपने ऊपर आनेवाली वैसी ही (विपत्ति) विपत्तिको (न इक्षते) नहीं विचारता है अर्थात् यह नहीं विवेक बुद्धि करता है कि जैसे अमुक २ आपत्तियां इनको आगई हैं व आरही है वैसे मुझमें भी आने योग्य हैं। (दह्यमानमृगाकीर्णबनांतरतरुस्थवत) जैसे बनमें लगी हुई दावानलकी ज्वालासे भस्म होते हुए हिरण आदि पशुओंसे भरे हुए बनके मध्यमें वर्तमान एक वृक्ष पर चढ़ा हुआ कोई मूर्ख मनुष्य यह नहीं देखता है कि जैसे इन हिरणोंको आपत्ति आ रही है वैसे कुछ देरमें मुझे भी होनेवाली है।

भावार्थ-यहा पर आचार्य शिष्यको यह वताते हैं कि जो लोग धनादि सामग्रीमें आशक्त होजाते है वे अपनी भविष्यकी अवस्थाको भूल जाते हैं। जैसे मद्यके नशेमें भूला हुआ मनुष्य अपने हितका ध्यान नहीं रखता वैसे मोही जीवको अपने हितका विचार नहीं रहता। यहां आचार्यने एक मूर्ख मनुष्यका दृष्टात दिया है कि जैसे किसी वनमें आग लग गई थी और वहां पर एक मूर्ख मनुष्य जा रहा था-वह उस अग्निसे वचनेके लिये उसी वनके मध्यमें किसी ऊंचे वृक्षके ऊपर चढ़के बैठ गया-वह वहां तिष्ठा हुआ यह तो देख रहा है कि आग वनके वृक्ष व पशुओंको जलाती हुई आगे वढ़ी चली आ रही है व आगसे भयभीत हिरण आदि पशु भागे जारहे है परंतु यह नहीं सोचता कि वह आग थोड़ी देरमें उस वृक्षको भी जलादेगी जिसपर वह

चढ़ा बैठा है। इसी तरह यह संसारी प्राणी किसी एक शरीर-रूपी वृक्षमें आयु कर्मानुसार आकर वास करता है। इस संसार वनमें काल रूपी अग्नि प्राणियोंका संहार कररही है इस बातको यह शरीरधारी देखता तो है और अफसोस भी करता है कि देखो अमुक प्राणी युवानीमें मर गया और छोटे २ बच्चों व स्त्रीको निराधार छोड गया व अमुकके पास लाखोंका धन है पर वह विना दान किये हुए ही चल दिया, धन कमाकर इसने कुछ भी अपना भला नहीं किया इत्यादि २, परन्तु मूर्ख प्राणी यह नहीं विचारता है कि बहुत शीघ्र यह कालकी अग्नि मुझे भी स्वाहा कर डालेगी और इसलिये मरण न होवे उसके पहले ही कुछ आत्महित कर लो जिससे परलोकमें आत्मा दुर्गतिसे बचकर सुगतिको प्राप्त होवे।

संसारमें जितनी अवस्थाएं हैं वह क्षणभंगुर हैं। कोई भी एकसी दशामें नहीं रहती। समय २ उनमें तबदीली होती रहती है। १०० वर्ष पहले जहां नगर था वहा आज वन है। जहा पहले वन था वहा अब नगर है। कोई कुल पहले बहुत धनाढ्य था परंतु अब निर्धन है। कोई बडा बलवान था पर अब वृद्ध और निर्बल है। कोई बड़ा रूपवान था पर अब दांत गिरजानेसे मुखमें झुर्रिया पड जानेसे बिलकुल कुरुप होगया है। कोई पहले बहु पुत्रवान था अब पुत्र रहित आप अकेला है। ऐसी परिवर्तन-शील और अनित्य संसारकी दशाओंमें थिरपनेकी बुद्धि रखना ऐसी ही मूर्खता है, जैसे कोई मनुष्य किसी मकानकी भीतको सूर्य्यके आतापसे सुवर्णमई पीत देखे और यह भाव करे कि यह

भीत ऐसी ही दिखती रहे। सूर्य्यके परिवर्तनके साथ इस भीतकी धूप अवश्य चली जायगी और वह अंधेरी होजायगी। ज्ञानी ऐसा जानकर सदा सावधान रहते हैं। वे शरीर, लक्ष्मी, कुटुम्बके समागमको धूपके संयोग समान थोड़े कालका समझकर उनके मोहमें न पड उनकी सामान्य रक्षा करते हुए उनसे अपने धर्मके साधनमें मदद लेते हैं। शरीरसे पूजा, भक्ति, जप तप, तीर्थयात्रा, वैय्यावृत्त्य, परोपकार करते, धनसे आहार, औषधि, अभय तथा विद्या दान करते, कुटुम्बसे शुद्ध आहार पानादिके साधनमें मदद लेते इस तरह आत्म कल्याणको कभी भूलते नहीं, उनको मरणका भय भी नहीं होता, वे ज्ञानी मकानके बदलनेके समान शरीरका बदलना समझते हैं। जो ऐसे ज्ञानी नहीं हैं वे भविष्यमें आनेवाली आपत्तियोंको न देखकर प्रमादी होकर विषय वासनाओंमें लिप्त हो अपना अत्यन्त अहित करलेते हैं। ऐसा ही समाधिशतकमें कहा है—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

भाव यह है कि मूर्ख आत्मा जिन स्त्री, पुत्र, धन, शरीर आदि पर पदार्थोंमें अपने पनेका विश्वास कर लेता है उनको छोड़ कर दूसरे कोई उसकी आत्माके लिये भयके स्थान नहीं हैं अर्थात् उन्हींके मोहमें यहां भी धनादि कहीं न चले जावें इस लिये भयभीत रहता और परलोकमें भी उनहीके मोहसे निषिद्ध गतिको चलाजाता है और जिस आत्महित साधक तप, पूजा, स्वाध्याय व्रतादिकोंसे भय करता है उनको छोड़कर दूसरे कोई

इस आत्माको निर्भय रखनेके उपाय नहीं है धर्मका साधक व ज्ञाता यहां भी आपत्तियोंसे भय नहीं करता और परलोकमें उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

श्री गुणभद्राचार्यजीने आत्मानुशासनमें कहा है:-

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं।
चिरपरिचित दारा द्वारमापद् गृहाणाम्॥
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतद्।
त्यजत भजत धर्म्मं निर्म्मलं शर्म्मकामाः॥३०॥

भाव यह है कि जिसे हम शरण समझते हैं वह अशरण है रक्षा नहीं कर सक्ता, जो बंधुजन हैं वे बन्धके कारण है, चिरकालसे जाननेमें आई स्त्री आपत्ति रूपी घरोंका द्वार है। और पुत्र है सो शत्रु है अच्छी तरह विचार करो। तब इन सबको छोडो और सच्चे सुखकी यदि वांछा है तो निर्मल धर्मका आराधन करो।

अज्ञानकी चिरकाल वासनासे यह अज्ञानी शरीरको थिर मान लेता है। स्त्री पुत्रादिको अपना परम प्रिय मानलेता है। बस उनके मोहमें भूला हुआ अपने ऊपर क्या २ कष्ट आनेवाले हैं उनको नहीं विचारता, कमसे कम मरण तो आनेवाला ही है पर उसका कुछ भी चिन्तवन नहीं करता।

दोहा:-परको विपता देखता-अपनी देखे नाहिं।
जलते पशु जा वन विषें, जड़ तरुवर ठहराहिं॥१४॥

उत्थानिका-अब शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन्! इसका क्या कारण है जो निकट आई हुई भी आपत्तियोंको यह मनुष्य नहीं देखता है। गुरु कहते है कि हे वत्स! धन आदि

पदार्थोंमें अतिशय गृद्धता होनेसे आने आनेवाली भी आपत्तिको धनी लोग नहीं देखते है—

श्लोक–आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनं॥ १५॥

समान्यार्थ–आयुका क्षय तथा धनकी वृद्धिका कारण कालका वीतना चाहने वाले धनवानोंको अपने जीवनसे भी अधिक धन प्यारा है।

विशेषार्थ–(आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं) आयुका नाश होते रहना और धनकी वढवारी होते रहना इन दोनोंका कारण (कालस्य निर्गम) कालका वीत जाना है इस बातको (वाछतां) चाहने वाले (धनिनां) धनवान लोगोंको (जीवितात्,) अपने प्राणोंसे (धनं) धन (सुतरां) अधिकतर (इष्टं) प्यारा है। भाव यह है कि धनवानोंको जैसा धनमें प्रेम है वैसा अपने जीवनमें प्रेम नहीं है क्योंकि वे धनी लोग अपने कालका वीतना इसी तरह चाहते है कि जिन्दगी नाश होते हुए भी धनकी वढवारी हो जावे। इसलिये इस धनको धिक्कार हो जो इस तरह मोह या गफलत वढ़ानेका कारण है।

भावार्थ–इस श्लोकमें आचार्यने धनवानोंमें धनकी जो भारी गृद्धता होती है उसको दिखाया है कि धनिकोंकी तृष्णा धनकी वृद्धिमें ही लगी रहती है। यद्यपि धनकी वृद्धिके साथ आयु क्षय होती जाती है तो भी उनको इसकी कुछ चिंता नहीं होती है। वे लोभके वशीभूत हुए अपने जीवनसे भी अधिक

धनको समझते हैं–हमारी आयु क्षय हो रही है तथा एक दिन समाप्त हो जायगी तब हमको सर्व धन आदि छोड जाना होगा कोई सामग्री साथ नहीं चलेगी। अथवा धन क्षणभगुर है किसी अन्य कारणसे जीते हुए भी छूट सक्ता है। इस सब आनेवाली विपत्तिको धनवान लोग नहीं विचारते हैं। धनकी बढवारीमें हर्ष तथा हानिमें खेद करते है। रातदिन धनकी वृद्धिमें ही अपने जीवनका उद्देश्य मानते हैं। ऐसे धनके लोभी पुरुषोंको कितना भी वैराग्यका उपदेश दिया जाय पर उनके चित्तोंपर कुछ भी असरकारक नहीं होता। धनवानोंकी अवस्थाके लिये ससारी जीवका नीचे लिखा दृष्टात बहुत उचित है–किसी एक जगलमें एक आदमीके पीछे हाथी दौडा चला आ रहा था वह भागता भागता एक कुएके भीतर जो वृक्ष लगा था उसके बीचमें लटक गया–उस वृक्षकी उस शाखाको जिसे वह पकड़े हुआ था दो मूषक काट रहेथे। नीचे उस कूपमें एक अजगर मुह फाडे बैठा था चार कोनेमें चार सर्प थे–हाथी ऊपरसे क्रोधके मारे वृक्षको हिला रहा था। उस वृक्षकी एक शाखामें ऊपरको मधुका छत्ता लगा था–उस लटकनेवाले मनुष्यके मुहमें मधुकी बूद पडती थी वह इस मधुके स्वादको लेकर मस्त हो रहा था परतु उसकी दशा भयानक थी–मूषकोंके काट देनेसे वह शाखा कट जाती और वह सीधा नीचे कूपमें पड़ जाता–ऊपरसे हाथी वृक्षको हिला रहा था, मधु-मक्खिया भी उसे चिमट रही थीं इतनेमें उधरसे कोई दयावान पथिक आ गया उसने ज्यों ही कूएमें देखा तो एक आदमी बुरी दशामें देखकर उससे कहा कि तू निकलें तो निकाल लें। वह

कहता है एक बूंद मधुकी और चाखलूं तब निकलूं। वह थोड़ी देर ठहरा रहा, परंतु वह मनुष्य मधुके स्वादमें ऐसा आसक्त हो गया कि बूंद पर बूंद चखते रहनेपर भी वह और अधिक बूंदकी तृष्णामें लटका रहता है—वह पथिक जब देखता है कि यह तो मूर्ख है मधुबिंदुके रसमें आशक्त है, अपना मरण होनेवाला है इसे नहीं देखता है तब वह अपने मार्गपर चला जाता है। यही दशा संसारी प्राणीकी है। इस संसारबनमें कालरूपी हाथी इसके पीछे लगा है। यह एक शरीररूपी वृक्षमें लटका है जिसको रात्रिदिवस दो मूषक काट रहे हैं। मधुमक्खियोंके समान कुटुम्बीजन इसे चारों तरफसे चिपट रहे हैं। नीचे निगोदरूपी अजगर व चार सर्परूपी चार गति है। यह प्राणी इंद्रिय विषय सुखरूपी मधुबिंदुमें आसक्त है। कोई आचार्य दया करके इसको निकालना चाहते हैं पर यह विषयका लोलुपी नहीं निकलता है—जरासे विषयके स्वादमें अपनी आपत्तियोंको नहीं देखता है—यह सब मोह और तृष्णाकी महिमा है। इस तरह आचार्यने समझाया कि लोभ व मोहके कारण यह अज्ञानी जीव ऐसा मूर्ख बन जाता है कि अपने भविष्यमें आनेवाली आपदाओंको नहीं देखता है।

दोहा—आयु क्षय धन वृद्धिको, कारण काल प्रधान।
चाहत हैं धनवान बन, प्राणनि ते अधिकान ॥१५॥

उत्थानिका—आगे शिष्य प्रश्न करता है कि धनके विना पुण्य बंधके कारण पात्र दान, देवपूजा आदि शुभ क्रियाएं होना असंभव है। जब धन पुण्यका साधन है तब वह निंद्य क्यों माना जाय? उसे तो उत्तम मानना चाहिये इस लिये जिस तरह

बने धन पैदा करके पात्र दान आदिमें लगाकर सुखके लिये पुण्य पैदा करना चाहिये। इसका खंडन आचार्य करते हैं—

श्लोक-त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति॥१६॥

सामान्यार्थ-जो कोई निर्धन पुण्य बन्धके लिये दान आदि करनेके वास्ते धनको पैदा करता है वह मैं नहालूंगा' ऐसा विचारकर अपने शरीरको कीचड़से पोत लेता है।

विशेषार्थ-(य अवित्त) जो कोई निर्धन मनुष्य (श्रेयसे) न बाधे हुए नवीन पुण्यबंध करने व पहले बांधे हुए पापोंके क्षयके लिये (त्यागाय) पात्रदान देवपूजा आदि करनेके अभिप्रायसे (वित्त) धनको (संचिनोति) सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि कर्म्मोंके द्वारा पैदा करता है (स) वह मनुष्य (स्नास्यामि इति) "मैं नहालूंगा" ऐसा सोचकर (स्वशरीरं) अपनी देहको (पंकेन) कर्दममें (विलंपति) लीपता है। अर्थ यह है कि जैसे कोई निर्मल शरीरको मैं स्नान करके साफ करलूंगा ऐसा सोचकर कीचडसे लपेटता हुआ विचार रहित मानाजाता है वैसे ही वह मनुष्य भी अज्ञानी है। जो यह सोचे कि मैं पापसे धन कमाकर पात्रदान आदिके पुण्यसे उस पापको क्षय करडालूंगा-ऐसा मनुष्य धनके पैदा करनेमें लगा हुआ भी अज्ञानी है-क्योंकि शुद्ध पाप रहित वृत्तिसे किसीके भी धनका उपार्जन संभव नहीं है। जैसा कहा है:—

" शुद्धैर्धनैर्विवर्धंते शतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः॥१॥ "

भाव यह है कि सज्जनोंकी सम्पत्ति शुद्ध धनसे नहीं बढ़ती है जैसे समुद्र कभी भी निर्मल जलसे पूर्ण नहीं होते। इसलिये निर्धनको धन कमाकर पाप बांधकर फिर पापको धोनेका यत्न करना मूर्खता है परन्तु जो चक्रवर्ती राजा सेठ आदि पहिलेसे ही विना यत्नके ही धनवान हो वह पुण्यके लिये पात्र दान देव पूजा आदि करो तो करो ऐसा भाव है।

भावार्थ–यहापर आचार्य शिष्यको मोक्षमार्गकी तरफ लगा रहे हैं और उसकी वृत्ति पर पदार्थसे हटा रहे हैं इसीलिये यह कह रहे है कि मुमुक्षु जीवको दानादि करनेके लिये धन कमाकर पापका उपार्जन करना उचित नहीं है, उसे तो आत्म-कल्याणमें ही लीन हो जाना चाहिये। यदि कोई कहे कि मैं पहले धन कमालूगा और उससे देवपूजा, दान आदि करके पुण्य बांधलूगा और पापका क्षय करूगा तो उसको आचार्य अज्ञानी बता रहे हैं क्योंकि धनके कमानेमें कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदिके अनेक आरंभ करने पडते हैं जिससे पाप बन्ध अवश्य होगा। ऐसा सभव नहीं है कि विना पाप बध किये हुए ही शुद्धतासे धन आ जावे जैसे समुद्र निर्मल जलसे ही पूर्ण नहीं होता, उसमें खारा जल आदि अनेक पदार्थ होते हैं। पाप बांधकर फिर इसे धोनेके लिये व्यवहार धर्म साधना इसी तरहका अज्ञानमई काम है जैसे किसीका शरीर स्वच्छ हो और व्यर्थ ही कीचड़ लपेटले और फिर स्नान करे, उसे कोई भी बुद्धिमान नहीं कह सक्ता। इसी तरह जो निष्पाप हो और पाप करके फिर धोनेका उपाय करे उसे कोई विचारशील नहीं कह सक्ता। आचार्य श्रेष्ठ जो

आत्म-ध्यानका मार्ग है उधर जीवकी वृत्ति आकर्षित कर रहे हैं क्योंकि यही साक्षात् मोक्षप्राप्ति और स्वतंत्र होनेका साधन है। क्योंकि मनुष्य पर्याय अत्यंत कठिन है तथा इसके छूट जानेका भरोसा नहीं, कि कब छूट जावे तथा इसी पर्यायसे ही संयमका साधन हो सक्ता है इसलिये शिष्यको आचार्य उत्तम निर्वृत्ति मार्गपर आरूढ करनेका उपदेश दे रहे हैं प्रेरणा करते हैं कि जब तेरे पास धन नहीं है तो फिर उस धनको संग्रह मत कर, जिस धनको राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार अतृप्तिकारक, मोहवर्द्धक-पापजनक जानकर त्याग देते हैं और साधुवृत्ति धारण करलेते हैं। जो पदार्थ हेय अर्थात् त्यागने योग्य है उसको बुद्धिमान ग्रहण नहीं करते इसलिये धनकी इच्छा छोड़कर मुमुक्षु जीवको यही उचित है कि वह परिग्रह रहित हो निरंतर आत्मध्यान तथा स्वाध्यायमें लीन रहे। और अपने कर्मबंधोंको काटे-यही श्रेष्ठ मार्ग है-यदि शिष्य यकायक इस उत्तम मार्गको न भी धारण करसके तौ भी उसको आचार्य श्रेष्ठ मार्गकी श्रद्धा करा रहे हैं जिससे वह धन त्यागको धन ग्रहणकी अपेक्षा श्रेष्ठ माने। यदि कोई शिष्य परिग्रह त्यागकर साधु न होसके और गृहस्थीके श्रावक व्रत पाले तौ भी उसके परिणामोंमें परिग्रहकी तरफ हेय बुद्धि होनी चाहिये-यदि वह गृहस्थी है और गृहस्थकी आवश्यक्तओंकी पूर्तिके लिये धन प्राप्तिका आरंभ भी करता है तौ भी उपादेय बुद्धिसे नहीं करता है-इसी तरह धन होनेपर जो दान पूजादिक कार्योंमें लगाता है सो भी उपादेय बुद्धिसे नहीं लगाता है-वह ज्ञानी एक शुद्धोपयोगको ही उपादेय जानता है

क्योंकि वही बंध नाशक है और शुभोपयोगको भी पुण्यका कारण जान हेय ही समझता है परंतु जब शुद्धोपयोगमें वर्तन नहीं होसक्ता तब अशुभोपयोगसे वचनेके लिये शुभोपयोगका सेवन करता है और उस शुभोपयोगसे पूजा दानादि करता है—यदि इस व्यवहार धर्मक्रियासे पुण्यबंध होता है तौ भी वह पुण्य बंधको चाहता नहीं है। इस प्रकारका सच्चा श्रद्धान एक ज्ञानी जीवको होना चाहिये। इसके विरुद्ध यदि यह श्रद्धान करे कि मेरा हित पुण्यबंधसे होगा और पुण्यबंध दान पूजादिकसे होगा और दान पूजादिक धनसे होंगे इसलिये धन कमाना चाहिये तो आचार्य इस श्रद्धानको मूर्खता बता रहे है, क्योंकि आत्माका हित तो मोक्ष है पुण्यबंध नहीं। पुण्यबंधसे ससारहीमें भ्रमण होता है जिस भ्रमणको एक सम्यग्दृष्टी जीव आत्माके लिये ठीक नहीं समझता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव कषायोंके आवेशको न रोक सकनेके कारण ही ग्रहस्थका कर्त्तव्य पालता है सो भी हेय बुद्धिसे, यदि कोई जन्मसे ही धनिक होता है तौ वह यदि परिग्रह त्यागकर मुनि नहीं होसक्ता तो गृहस्थ धर्ममें रह उस धनको दान पूजादि परोपकारमें लगाकर सफल करता है। धन कमाकर दान पूजादि करना एक छोटा और नीचा मार्ग कायर और असमर्थ पुरुषोंके लिये है। वीर पुरुषोंके लिये तो यही श्रेष्ठ मार्ग है जो होती हुई परिग्रहको भी त्याग कर निराकुल होजावे क्योंकि त्याग अवस्थामें ही सुख है जैसा श्री गुणभद्राचार्यजीने कहा है:—

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः ।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी ॥६५॥
(आत्मानुशासन)

भाव यह है कि धनके अर्थी धनको न पाकर तथा धनी लोग धनसे तृप्त न होते हुए इस तरह धनी और निर्धनी सब ही दुःख पाते हैं यह बड़े कष्टकी बात है । वास्तवमें एक मुनि महाराज ही परम सुखी हैं । इस तरह धनकी प्राप्तिको उपादेय मानना ठीक नहीं है । बहुधा जो लोग यह सोचकर धन कमानेमें लग जाते हैं कि धन होगा तब खूब दान पुण्य करेंगे वे लोग धनके होनेपर ऐसे अन्धे हो जाते है कि अपने पिछले विचारको भुला देते है और धनके मदमें और अधिक पापमें फंस जाते है इस लिये आचार्यने शिष्यके भ्रमको निवारण किया ।

दोहा-पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय ।
स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़से लिम्पेय ॥१६॥

उत्थानिका-अब शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! यदि ऐसा है कि धनके पैदा करनेमें पाप होता है और पापसे दुःख होता है इस लिये धन निंद्य है तो धनके विना सुखके कारण भोगोपभोगकी प्राप्ति असंभव है । भोगोपभोगके लिये तो धन होना चाहिये इसलिये धन प्रशस्त हो जायगा । (भोजन ताम्बूल आदिको भोग और वस्त्र स्त्री आदिको उपभोग कहते है)-इस शंकाको सुनकर गुरु कहते हैं कि जब खाली पुण्य कमानेके हेतुसे धनको प्रशस्त गिना जाय ऐसा जो तूने कहा था सो ऊपर दिखाए हुए मार्गसे प्रशस्त नहीं होसक्ता तब

क्या भोगोपभोगके लिये धनका साधन प्रशस्त हो सक्ता है? ऐसा तू कहता है–अर्थात् भोगोपभोगके लिये भी प्रशस्त नहीं हो सक्ता क्योंकि भोगोपभोगका स्वरूप इस प्रकार है–

श्लोक–**आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।**
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः॥१७॥

सामान्यार्थ–कौन बुद्धिमान मनुष्य ऐसे भोगोंको सेवन करेगा जो अपनी उत्पत्तिके समय दुःखदाई हैं, जिनकी प्राप्ति होने पर तृप्तता होती नहीं व अतमें जिनका छोडना बहुत दुःखपूर्ण है? अर्थात् कोई भी सेवन नहीं करेगा? यदि कदाचित् चारित्र मोहके उदयसे कोई करेगा भी तो अति अधिक आशक्त बुद्धिसे न करेगा-हेय बुद्धिसे ही करेगा।

विशेषार्थ–(क सुधीः) कौन विद्वान् (प्रारभे) उत्पत्तिके समय (तापकान्) दुःखकारक (प्राप्तौ) उनकी प्राप्ति होनेपर अर्थात् इन्द्रियोंके साथ संबंध होनेपर (अतृप्तिप्रतिपादकान्) तृष्णाके बढानेवाले (अंते) तथा भोगनेके पीछे (सुदुस्त्यजान्) जिनका छोड़ना अशक्य है ऐसे (कामान्) भोगोपभोगोंको (सेवते) अपनी इन्द्रियोंके द्वारा भोगमें लेवेगा? अर्थात् कोई नहीं लेवेगा (कामं) यदि कोई लेवेगा भी तो अतिशय रूप नहीं लेवेगा।

ये भोगोपभोग कैसे हैं। कहा है–

"तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः।"

भाव यह है कि भोगते समय सुखरूप मालूम होनेवाले

पदार्थोंमें अज्ञानी ही रंजायमान होता है परन्तु जो परीक्षा करनेवाले हैं, वे इन भोगोंकी अच्छी तरह परीक्षा करके उन्हें हेय समझ अपने आत्माके हितमें ही रुक जाते हैं—अर्थात् आत्मकल्याणमें दत्तचित हो जाते हैं। ---

ये भोगादि पदार्थ बड़े कष्टसे पैदा होते हैं। सर्व जनोंमें प्रसिद्ध ही है कि खेती, वाणिज्य आदिमें बहुत कष्ट उठाकर अन्नादि भोग्य पदार्थोंकी प्राप्ति करनी पड़ती है जिससे शरीरको, इन्द्रियोंको, और मनको बहुत पीड़ाएं होती हैं। यदि ये कष्ट करनेपर मिल भी जावें तो इनको भोगते हुए ये सुखके कारण नहीं होते क्योंकि तृष्णा बढती ही चली जाती है जैसा कहा है—

"अपि संकल्पिताः कामाः संभवंति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्व विसर्पति ॥"

भाव यह है कि जैसे जैसे इच्छित भोग मिलते चले जाते है तैसे तैसे मनुष्योंकी तृष्णा खूब अधिक बढती चली जाती है यहांतक कि जगतमें फैल जाती है।

यदि यह कहा जाय कि खूब मन भरके भोग लेनेपर तो तृप्ति हो जायगी। तृष्णाका संताप ठंडा पड जायगा, तो आचार्य कहते है कि खूब भोग लेनेपर भी उनसे मनका हटना दुर्लभ है। अर्थात् मनसे, कभी भी उनका मोह नहीं छूटता है। जैसा कहा है—

"दहनस्तृणकाष्टसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः।
ननु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्म्मणः॥

भाव यह है कि कदाचित् अग्नि तृण काठ आदि पदार्थोंके

डालते रहनेसे तृप्त हो जाय तो हो जाहु व समुद्र सेकड़ों नदियोंके जलसे तृप्त हो जाय तो हो जाहु, परंतु यह मनुष्य भोगोंके सुखोंसे कभी भी तृप्त नहीं होता ऐसी कोई कर्म्मकी बलवान शक्ति है। और भी कहा है:—

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमनुभूय मनो भवे भवे नैव चेतयते॥"

भाव यह है कि विषयभोग सम्बन्धी विष कितना अतिशय भयानक है कि जो मनुष्य इस विषको पीता है वह इस विषके द्वारा भवभवमें वार वार इस विषयसुखको अनुभव करते हुए भी व उससे उत्पन्न दुःखोंको सहते हुए भी नहीं समझता है—अज्ञानी ही बना रहता है।

यहां शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियोंने भोगोंको नहीं भोगा ऐसा तो सुननेमें नहीं आया अर्थात् तत्त्वज्ञानियोंने भी भोग भोगे हैं ऐसा पुराणोंमें सुना है तब आपके इस उपदेशकी कैसे श्रद्धा की जाय कि कौन बुद्धिमान इन विषयोंका भोग करेगा? इसपर आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान लोग काम अर्थात् अतिशयरूप नहीं सेवते जिसका तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानी भोगोंको हेय रुप श्रद्धान करते हुए भी चारित्रमोहके तीव्र उदयसे उन भोगोंको त्यागनेके लिये असमर्थ होते हुए ही सेवते हैं, परंतु उनके चित्तमें ज्ञान वैराग्यकी भावना सदा जागृत रहती है, जिस भावनाके बलसे जब उनका चारित्रमोह मंद होजाता है तब इन्द्रिय ग्रामोंको समेटकर अर्थात् संयम धारणकर शीघ्र ही आत्म कार्यके लिये उत्साहित हो ही जाते हैं।

जैसा कहा है-

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेषक्रमो
व्ययोयमनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकालाविमा-
विति मतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः॥

भाव यह है कि ज्ञानी बुद्धिमान मनुष्य ही इस जगतमें इन नीचे लिखी बातोंका अच्छी तरह विचार करता हुआ आचरण करता है-अज्ञानी ऐसा नहीं करसक्ता (१) यह फल है (२) यह क्रिया है (३) यह कारण या उपाय है (४) यह उसके करनेका क्रम है (५) यह हानि या खर्च है (६) यह उसके सम्बन्धसे फल है (७) यह मेरी दशा है (८) यह मित्र है (९) यह शत्रु है (१०) यह ऐसा देश है (११) यह ऐसा काल या जमाना है।

अर्थात् तत्त्वज्ञानी धर्मका स्वरूप समझकर उसका आचरण द्रव्य, क्षेत्र, काल भावको देखकर करता है। यदि सर्वथा त्यागकर साधुव्रत धार सके तो धारता है अन्यथा गृहस्थमें रह हेय बुद्धिसे भोग भोगता हुआ श्रावक धर्मको पालता है।

भावार्थ-आचार्यने शिष्यके परिणामोंको भोगोपभोगोंसे हटानेके लिये और आत्महितमें लगानेके लिये ऐसा उपदेश दिया है कि यदि तू यह कहे कि भोगोपभोग संसारमें सुखके कारण हैं इससे इनकी प्राप्तिके लिये तो धन कमाना चाहिये तो तेरा यह मानना भी मिथ्या है, क्योंकि ये सांसारिक भोग अज्ञानसे सुखदाई मालूम होते हैं परन्तु ये दुःखके ही कारण हैं, क्योंकि पहले तो विशेष भोग और उपभोगके पानेकी इच्छा होती है।

यह इच्छा ही दु ख है फिर जबतक यह इच्छा पूरी नहीं होती तब तक आकुलता रहती है। तब तक इच्छित भोग सामग्रीके लिये खेती वाणिज्य, सेवा कठिन २ उपाय करके धनको कमाता है, जिस धन कमानेके कार्यमें बहुत कुछ शारीरिक और मानसिक आताप सहता है। बहुतोंको इस धन प्राप्तिके होने ही में बहुत विघ्न आजाते है कदाचित् बहु कष्ट उठाने व पूर्व पुण्यके उदयसे धन भी पैदा हो गया तो इच्छित भोग्य उपभोग्य सामग्रीको इकट्ठा करनेके लिये बहुत कष्ट उठाना पड़ता है—बहुत कष्टसे मनपसन्द स्त्री, मकान, वस्त्र, सम्बन्ध, नौकरचाकर आदि प्राप्त होते है। इस तरह भोग सामग्रीके एकत्र करने ही में बड़ा कष्ट होता है—बडे कष्टसे भोगोंको पानेपर भी उनको पांचों इन्द्रियोंसे भोगनेकी चेष्टा करता है। यदि कोई इन्द्रिय भोगनेमें असमर्थ होती है तो महान कष्ट प्राप्त करता है। इन्द्रियोंके द्वारा भोगते भोगते भी इच्छा बंद नहीं होजाती और अधिक तृष्णा बढती चली जाती है जिससे और अधिक मनोज्ञ सामग्रीको इकट्ठा करनेकी आकुलता करता है। कदाचित फिर भी मनोज्ञ सामग्री मिली और इंद्रियोंकी शक्ति न घटी तो फिर उसे भोगते ही भोगते अन्य किसी मनोज्ञ भोगकी इच्छा बढजाती है। इस तरह कभी भी इसकी तृष्णारूपी आग शांत नहीं होती। उधर शरीर जराक्रांत होकर छूटनेके सन्मुख हो जाता है पर इच्छाका स्रोत बढ़ता ही चला जाता है। भोगते भोगते यदि कोई योग्य सामग्री नष्ट होने व बिगडने लगती है तो भोक्ताको उसके वियोगका महान कष्ट होता है और यदि कहीं अपनी आयु पूर्ण हुई और उन सामग्रियोंको

छोडना पड़ा तो और भी महान दुःख होता है। फिर इन भोग सम्बन्धी इच्छाओंके होनेपर व इनको भोगते हुए तीव्र राग होनेपर व इनके वियोगमें आर्त्तध्यान होनेपर जो तीव्र रागद्वेषके परिणाम होते है उनसे यह प्राणी अशुभ नाम, नीच गोत्र, असाता वेदनी तथा अशुभ आयु बांध लेता है जिससे नरक, पशु व कुत्सित मनुष्य गतिमें चिर काल भ्रमणकर असह्य वेदनाओंको सहन करता है।

ये भोग सदा ही आकुलता व दुःखके कारण हैं। कर्मभूमिके मनुष्योंको तीनों ही तरहसे दुःख होता है अर्थात् उनकी प्राप्ति करनेका, प्राप्ति होनेपर तृप्तता न पानेका तथा दुःखोंसे उनको त्यागनेका, परन्तु भोगभूमिके मनुष्य और सर्व देवोंके विषय भोगोंकी प्राप्तिका कष्ट तो नही है किन्तु तृप्तिता न पानेका तथा दुःखसे छोडनेका दुःख तो अवश्य है। देवगण मरणके ६ मास पहले अपनी माला मुरझाई देख वहाके भोगोंको छूटता मालूम कर महा विलाप करते है, जिसका कारण भी वही है कि भोगते हुए भी उनके मनको तृप्ति नहीं हो चुकी हैं–इस तरह आर्त्तध्यानसे देवतागण कोई एकेन्द्री, कोई पंचेन्द्री पशु कोई नीच मनुष्य आकर जन्मते हैं। इस लिये ये भोग रोगके समान सदा ही तजने योग्य है–जो इन भोगोंकी आशामें सुख मानते हैं वे अज्ञानी है।

श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं:—

कृष्ट्वाप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ।
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः॥
तैलं त्वं सिकता स्वयं मृगयसे वाञ्छेद् विषाज्जीवितुं।
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत्त्वया॥४२॥

(आत्मा०)

भाव यह है कि हे अज्ञानी! तू अज्ञानसे सुखके वास्ते क्यों दीर्घकालसे खेत जोतकर, बीज बोकर, राजाओंकी चाकरी करके, तथा वन व समुद्रमें घूमकर दुःख उठा रहा है? तुम्हारा ऐसा करना तेलका बालू (रेत)में ढूंढना व विष खाकर जीवन चाहनेके समान अज्ञानरूप है। क्या तूने नहीं जाना है कि आशारूपी पिशाचके वश करनेसे ही तुझे सुख होगा।

संसारके भोगोंमें सुख न समझकर ही चक्रवर्ती आदिकोंने भोग करके तथा बालब्रह्मचारी श्री वासपूज्य, मल्लिनाथ, नेमनाथ, पार्श्वनाथ तथा श्री महावीर ऐसे पांच तीर्थंकरोंने बिना भोगे हुए ही भोगोंको त्याग दिया और अपने आत्मकार्यमें लीन हो गए। जैसा श्री गुणभद्राचार्यजीने कहा है:—

अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्।
पापांतामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्॥
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्।
एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः॥१०२॥

(आत्मा०)

भाव यह है कि किसीने तो विषय भोगोंको तृणके समान समझकर अपनी लक्ष्मी अर्थी जनोंको दे दी। दूसरे किसीने इसे पाप रूप व न देने लायक समझकर किसीको दी नहीं और और वह इसे छोड़ गया। तीसरे कोई महान पुरुषने इस लक्ष्मीको पहलेसे ही अकल्याणकारी समझकर ग्रहण ही नहीं करी। इन तीन प्रकारके त्यागियोंमें एक दूसरेसे उत्तम २ त्यागी हैं अर्थात् जिन्होंने भोगोंको ग्रहण ही नहीं किया वे सर्वोत्तम हैं।

इस तरह जितना गूढ विचार किया जायगा विवेकीको निश्चय हो जायगा कि इन भोगोंकी तृष्णामें आजतक कोई भी तृप्त हुआ नहीं न हो सक्ता है। समुद्रमें कितनी ही नदियां मिल जावें वह कभी नदियोंके जल लेनेसे धाकता नहीं, इसी तरह विषयभोगोंसे कोई धापता नहीं। आचार्य शिष्यकी इस श्रद्धाको ठीक कर रहे है कि भोगोपभोगके लिये भी धनकी इच्छा करना व्यर्थ है।

शिष्यने यह शंका उठाई थी कि जो तत्त्वज्ञानी हैं वे फिर क्यों नहीं साधु हो जाते क्यों वे गृहस्थावस्थामें रह भोगोपभोग सामग्रीको एकत्र करते तथा भोगते हैं उसका समाधान आचार्यने यह किया है कि तत्त्ववेत्ताओंके श्रद्धानमें तो भोगोपभोग बिलकुल त्याज्य हो जाते परन्तु उसके जो अनादिकालसे चारित्र मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे कषायकी वासना चली जाती है उस कषायका जब तक दमन नहीं होता तब तक वह त्याज्य समझता हुआ भी योग्य पदार्थोंको त्याग नहीं सक्ता, किंतु अपने कषायोंके उदयके अनुसार न्यायपूर्वक इन सामाग्रियोंको इकट्ठी करता तथा भोगता है, परंतु अपनी निन्दा करता रहका सदा ही ऐसी भावना भाता है कि कब वह दिन आजावे जब मैं निर्ग्रन्थ साधु हो जाऊं तथा वह तत्वज्ञानी जो निरन्तर आत्मतत्वकी भावना करता है-इस भावनाके प्रतापसे जैसे मन्त्रशक्तिसे शनै २ विष उतरता व औषधि ग्रहणसे धीरे २ रोग उपशमन होता वैसे पूर्ववद्ध मोहकर्मकी शक्ति घटती जाती है। ज्यों२ कषाय मंद होती जाती है वह गृहस्थ प्रतिमा रूपसे अधिक २ भोगादि पदार्थोंका त्याग करता

चला जाता है। यहां तक कि ब्रह्मचारी हो जाता फिर क्षुल्लक ऐलक तथा अंतमें साधु हो जाता है। सो यह बात असभव नहीं है। किसी बातको त्यागने योग्य समझ लेने पर भी एकदमसे कोई नहीं भी छोड़ सक्ता है। परन्तु धीरे २ छोड़नेका उद्यम करता है तौ भी वह त्यागके सन्मुख उत्तम ही कहलाएगा और वह कभी न कभी त्याग ही देगा। जैसे शास्त्रमें यह उपदेश निकला कि किसीको भांग नहीं पीना चाहिये। किसी श्रोताने यह श्रद्धान तो कर लिया कि भांग पीना बुरा है। परन्तु अपनी आदत नित्य पीनेकी पडी हुई थी इससे वह इकदमसे छोड़ नहीं सका किन्तु कम कम पीनेके लिये तय्यार होगया तौ वह मनुष्य उत्तम ही है कभी न कभी छोड़ देगा। चारित्रके पालनमें कषायोंकी मन्दताकी जरूरत है। ज्यों २ कषाय मंद होगी चारित्र बढता चला जायगा। चारित्र मोहके मंद करनेका उपाय आत्मतत्वका अनुभव है। इस प्रयत्नमें सम्यग्दृष्टी नित्य रहता है। त्याग सन्मुख होते हुए भी तत्वज्ञानी बहुत कम अथवा न्याय पूर्वक भोगोको भोगता है इससे उसके पूर्व कर्मोंकी निर्जरा अधिक होती है और बंध बहुत तुच्छ होता है। जब कि मिथ्यादृष्टी उन ही भोगोंमें रंजायमान हो जाता। पूर्ण आशक्तिसे उपादेय जानकर भोगता है इसीसे उसके कर्मोंका बंध बहुत तीव्र होता है। और चारों ही गतियोंमें जिस तृष्णासे प्राणी कष्ट उठाते हैं वह तृष्णा मिथ्या दृष्टियों हीके होती है। सम्यग्दृष्टीके अंतस्करणमें तो आत्मानंदके भोगकी ही भावना रहती है वह विषयभोगोंको अपने आत्माके भावोंको मलीनकर्ता जानता है। परन्तु कचारीसे

रोगी जैसे कटुक औषधिको न चाहते हुए भी पान करता है और चाहता यही है कि कब रोग हटे और कब यह औषधि छूटे इसी तरह सम्यक्तो गृहस्थकी भावना रहती है।

आचार्यका भाव यही है कि ये भोग भोगने योग्य नहीं हैं, इनसे वैराग्य भजके निज आत्माके भोगसे उत्पन्न परम - अनुभव-रूपी सुधाका पान करना ही कार्य्यकारी है।

दोहा—भोगार्जन दुःखद महा, भोगत तृष्णा वाढ।
अंत त्यजत गुरु कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ ॥ १७ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य समझाते हैं कि हे भद्र जिस शरीरके लिये तू अनेक दुःखोंसे वस्तु प्राप्ति करनेकी इच्छा करता है उस कायके लक्षणको तो विचार वह काय ऐसी है।—

**श्लोक—भवति प्राप्य यत्सगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥**

सामान्यार्थ—जिस शरीरकी सगतिको पाकर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं और जो काय सदा ही संतापकारी है उस कायके लिये भोग्य पदार्थोंकी इच्छा करना वृथा है।

विशेषार्थ—(शुचीनि अपि) पवित्र रमणीक भी भोजन वस्त्र आदि पदार्थ (यत्सगम्) जिस शरीरके सम्बन्धको (प्राप्य) पाकर (अशुचीनि) अपवित्र मलीन असुदर (भवति) हो जाते हैं। (स कायः) वह शरीर (संततापाय) निरंतर क्षुधा आदि आतापोंका घर है (तदर्थं) उस नित्य संतापकारी कायकी रमणीक पवित्र वस्तुओंसे उपकार करनेकी (प्रार्थना) इच्छा करना

(वृथा) व्यर्थ है। क्योंकि किसी भी उपायसे यदि एक संतापको निवारा जायगा तो क्षणक्षणमें दूसरे अनेक संकट व इच्छाए उत्पन्न होना संभव है—इससे अंतमें कोई सार नहीं निकलेगा।

भावार्थ—यहां आचार्य शिष्यको इन्द्रियोंके आधारभूत शरीरका स्वरूप बता रहे है—यह देह महा मैली है, उपरसे चाप लपेटा हुआ है इससे सुन्दर भासती है पर भीतरसे महा निन्ध है। मल, मूत्र, हाड, मांस, रुधिर, पीपका घर है। इसके दो कान, दो नाक, १ मुख, दो आंख, दो मध्यके ऐसे नौ द्वारोंसे निरतर मल वहा करता है, इसके सिवाय शरीर भरमें चलनीके समान अनेक रोम छिद्र हैं जिनसे भी पसेव व अशुद्ध वायु निकला करती है। इस शरीरके सम्बन्धसे ही इस ससारमें मलीनता और अपवित्रता होजाती है—जहां कहीं नव द्वारोका वहा हुआ मल गिरता है वहीं गन्दगी छा जाती है। जल व वस्त्र, व माला, व अतर व पुष्प आदि पदार्थ एक दफे शरीरका सम्बन्ध पाते ही अपवित्र हो जाते हैं फिर कोई सभ्य मनुष्य उनको पुन: स्वीकार नहीं करता, इस शरीरसे जो रोम छिद्रोंसे पसेवादि मल निकलता है उसके संबंधसे हरएक वस्तु स्पर्श होते ही मलीन होजाती है, इस शरीरमें क्षुधा पिपासाकी नित्य बाधा रहती है—फिर भी अनेक पीडाए व ज्वर आदि रोग होजाते हैं जिनसे महाकष्ट होता है शरीरके अग उपंग दिनपर दिन जीर्ण होते जाते है—जब जरा आजाती है तब शरीर ठीक २ काम नहीं देता। यह तन इतना सुकुमार है कि थोडासा भी अन्यथा निमित्त मिलनेसे विगड़ जाता तथा नष्ट होजाता है। यह

शरीर कृतघ्नी भी है–जितना अधिक इसको रमणीक भोजन पानादिसे सुखिया बनाया जायगा उतना ही अधिक यह धर्म-कार्यमें व लौकिक धनसिद्धि आदिके कार्यमें आलसी हो जायगा। और इसको पुष्ट करनेका उद्यम करते करते भी यह अंतमें जब आयु कर्म झड़ जाता है तब अपनेको जवाब दे देता है। उस समय यह शरीर अपनेको उपकार करनेवाली सर्व सामग्रियोंके साथ यहीं पड़ा रह जाता है और यह जीव केवल सूक्ष्म शरीरोंको लेकर ही परलोकमें गमन करता है। इस शरीरको अज्ञानी ही स्थिर मानते हैं–जैसा समाधिशतकमें कहा है —

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थिति भ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

भाव यह है कि जैसे सेनाका व्यूह जो एक प्रकारका संग-ठन युद्धके समय किया जाता है एक आकारमें बना रहता है यद्यपि उसमेंसे कुछ सुभट जाते रहते व दूसरे आते रहते हैं इसी तरह यह शरीर एक आकारमें बना हुआ दीखता है परन्तु इसमेंसे अनेक पुद्गलके परमाणु गिरते हैं व दूसरे आके मिलते रहते हैं। जैसे सेनाका व्यूह स्थिर नहीं है वैसे यह शरीर स्थिर नहीं है। जैसा सेनाका व्यूह युद्ध क्रियाकी समाप्तिपर नष्ट हो जायगा वैसे यह शरीर आयु क्षय होनेपर नष्ट हो जायगा। तौ भी अज्ञा-नी लोग इसे स्थिर मानते तथा इसीमें आत्म बुद्धि कर लेते हैं।

श्री गुणभद्राचार्यजीने शरीरको कारागारकी उपमा दी है:-

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्र पिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ॥

कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥

यह शरीर कैदखानेके समान है—जो हड्डियोंके मोटे २ लकड़ोंसे बनाया हुआ है, जो नसोंके जालसे वेष्टित है, जो चमड़ेसे ढका हुआ है व जिसमें आयु कर्मरूपी मजबूत बेड़ियां लग रही हैं, ऐ अज्ञानी तू ऐसे शरीरमें वृथा प्रीति मत कर।

श्री अमितिगति महाराज कहते हैं.—

शरीरमसुखावहं विविधदोष वर्चो गृहं ।
सशुक्ररुधिरोद्भवं भवभृता भवे भ्राम्यते ॥
प्रगृह्य भवसंततेर्विदधतानिमित्तं विधं ।
सरागमनसा सुखं प्रचुरमिच्छता तत्कृते ॥२४४॥

भाव यह है कि यह शरीर दुःखदाता है, नाना दोष और मलमूत्रोंका घर है, शुक्र और रुधिरसे उत्पन्न है, यह संसारी प्राणी इस शरीरके द्वारा सुख पाऊंगा ऐसी इच्छा करके सराग मनसे जन्म जन्मकी परिपाटीको चलानेवाले कर्मोंको बांधकर इस संसारमें भ्रमण किया करता है।

और भी कहते है—

किमस्य सुखमादितो भवति देहिनो गर्भके
किमंग मलभक्षण प्रभृति दूषिते शैशवे ॥
किमंगजरुजा सुखव्यसनपीडिते यौवने ।
किमंग गुणमर्दनक्षम जराहते वार्धके ॥२४५॥

भाव यह है कि इस शरीरके निमित्तसे इस मनुष्यको कहीं भी सुख नहीं है। गर्भमें अंग सकोचनादिसे दुःख पाता है।

शिशुकालमें शरीरके मलको भक्षण करके व अन्य अज्ञान जनित बातोंसे दुःखी रहता है, युवानीमें कामकी पीड़ासे पीडित रहता है और बुढ़ापेमें शरीरकी शोभा व शक्तिको गमा देनेसे कष्ट उठाता है। इस शरीरकी चारों ही अवस्थाओंमें यह जीव कष्टोंको भोगता है। इस शरीरके सम्बन्धमें कभी भी यह प्राणी निराकुलता नहीं पाता है-अतएव इस शरीरके लिये भोगोपभोगकी कामना करके धनादिका संग्रह करना वृथा ही कष्ट उठाना है।

दोहा-शुचि पदार्थ भी संगते, महा अशुचि होजाय।
विघ्नकरण नित कायहित, भोगेच्छा विफलाय ॥१८॥

उत्थानिका-फिर शिष्य कहता है हे भगवन्! यदि निरन्तर आपत्ति मूल इस शरीरका उपकार धनादि सामग्रीसे नहीं होता है तो न हो परन्तु केवल अनशनादि तपश्चरणसे ही नहीं धनादिसे भी इस आत्माका उपकार होगा क्योंकि धनसे धर्मका साधन होगा जिससे आत्माका भला होगा इसलिये भी धन ग्राह्य है।

आचार्य कहते हैं ऐसा नहीं है जो तूने धनादिसे आत्माका उपकार होना माना है सो संभव नहीं है.-

श्लोक-यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारक ॥१९॥

सामान्यार्थ-जो जो कार्य इस जीवका उपकारक है वह देहके लिये अपकारक है तथा जो क्रिया देहका उपकार करती है वह जीवका बुरा करती है।

विशेषार्थ-(यत्) जो अनशन आदि बारह प्रकारका तप करना (जीवस्य) जीवके लिये (उपकाराय) उसके पूर्व-

वद्ध पापोंके क्षय तथा आगामी पापोंके रोकनेसे उपकार करनेवाला है (तत्) सो तप (देहस्य) इस शरीरके लिये (अपकारकं) ग्लानि आदिका कारण होनेसे हानिके लिये है । तथा (यत्) जो धन, स्त्री, धान्य आदि परिग्रह (देहस्य) इस देहके लिये (उपकाराय) भोजन वस्त्र शयन आदिके उपयोगके द्वारा क्षुधा आदिकी बाधाके क्षय करनेसे उपकार करनेवाला है (तत) सो धनादिक (जीवस्य) इस जीवके लिये धन पैदा करने, रक्षण करने आदिके द्वारा पाप बंध कराके (अपकारकं) दुर्गतिके दुःखोंमें पहुंचानेके कारण हानिकारक है इसलिये ऐसा जानो कि धनादिसे जीवके साथ साथ उपकारकी गंध भी नहीं है—जीवका उपकारक तो धर्म ही है ।

भावार्थ—यहां पर आचार्य यह दिखलाते हैं कि धनादि परिग्रहसे जीवका अकल्याण होता है, क्योंकि उनके उपार्जन, रक्षण आदिमे राग द्वेष मोहकी परिणतियोंसे इस जीवको तीव्र कर्मोका बंध पडता है यहां तक कि नरक गतिमें भी इसी मोहसे चला जाता है जैसा कि श्री उमास्वामी महाराजने कहा है " बह्वारंभपरिग्रहत्व नारकस्यायुषः " कि बहुत आरंभ परिग्रहसे नरक आयुका बंध पड़ता है । धनके होने हीसे नाना प्रकार भोग्य पदार्थ एकत्र होते है जिनके भोगमें फंसके यह प्राणी अपने आत्माके स्वरूपको भूल जाता है । तीव्र मिथ्यात्वके कारण संसारमें भ्रमण करता है । यदि कोई ज्ञानी भी है और मिथ्या भावसे रहित है वह भी इन धनादिकोंको त्यागना ही चाहता है । क्योंकि विना त्यागे वह उनके व्यवहार

सम्बन्धी आकुलतासे नहीं बचता है जो आकुलता ध्यानमें बाधक है। इसीलिये श्रावक ज्यों २ प्रतिमा रूपसे चारित्रमें चढता जाता है अथवा सर्व परिग्रह त्याग मुनि हो जाता है त्यों २ स्वात्मानुभवको अधिक समय तक करनेका अवसर प्राप्त करता जाता है, यदि ये धनादि परिग्रह जीवके साथ अपकारका निमित्त न होती तो इनके त्यागनेकी आवश्यक्ता एक साधुके लिये न पडती। जिनके लिये मोक्षकी प्राप्ति इसी जन्मसे नियत है, ऐसे तीर्थंकरादिकोंने भी जब परिग्रहका त्याग किया तब ही वे साधु पदमें उत्तम धर्म व शुक्लध्यान करके कर्मोंका संहार कर सके इसलिये यह परिग्रह जीवके लिये कभी भी हितकारक नहीं है–यदि यह कहा जाय कि धनके द्वारा बहुतसे धर्मके कार्य होते है जैसे श्री जिनमंदिर निर्मापण, पूजारंभ, दान करना, परोपकार करना, तीर्थयात्रा करना आदि २ इससे जीवका भला ही होता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये सब शुभ कार्य हैं–शुभोपयोगरूप हैं जिनसे पुण्यरूप अघातिया कर्मोंका व पापरूप घातिया कर्मोंका बंध ही होता है। जीवका बंधसे कभी उपकार नहीं किन्तु कर्मोंकी निर्जरासे उपकार होता है। जिस कर्मकी निर्जराका कारण वीतराग भाव है जहां परिग्रह हेय है ऐसा श्रद्धान व ज्ञान है तथा परिग्रहका त्याग है वही वीतराग भाव है। यदि यह कहा जाय कि शुभ पुण्यबंधसे ही यह जीव देव व नर गतिमें जाकर सुखकी सामग्री प्राप्त करता है, यदि पापबंध होता तो नरक व तिर्यंच गतिमें जाता इससे पुण्यबंधने जीवका उपकार क्यों नहीं किया?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि पुण्यबंध इसे देव व मनुष्यके भोग्य योग्य पदार्थोंका सम्बन्ध मिलाता है तथापि वह सम्बन्ध व उसका राग इस जीवके लिये पापबंध कारक ही होता है इसीसे बहुतसे देव स्वर्गसे एकेन्द्री आदि पशु व खोटे मनुष्य जन्म पा लेते हैं तथा बहुतसे नारायण प्रति नारायण, चक्रवर्ती, राजा, महाराणा सेठ, साहूकार, राज्य, धनादि सामग्रीमें मोह बढा नर्कगतिमें चले जाते हैं। इसलिये पुण्यबंध भी परम्पराय जीवका अहित कारक है। यदि कहो कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानीके लिये हानिकारक है परन्तु ज्ञानीके लिये नहीं, सो भी कहना ठीक नहीं है. जैसा पहले दिखाया है कि ज्ञानीके लिये भी जितने अंश मोह है उतने अंश पापबंध कारक होनेसे हानिकारक है। ज्ञानी जो स्वर्गादिसे आकर भी उत्तम मनुष्य होता है उसमें कारण उसका निर्मल सम्यक्त व वैराग्य भावका सहकारीपना है जिससे वह स्वर्गादिक भोगोंको भी तुच्छ समझता और स्वात्मानुभवको मुख्य समझता इससे मंद रागसे पुण्यबांध उत्तम मनुष्य होजाता है। यहा भी उस ज्ञानीका सम्यक्त भाव ही उसे परिग्रहमें लिप्त नहीं होने देता और इसी संस्कारसे वह परिग्रह प्रमाण या परिग्रह त्याग व्रत लेकर अनेक प्रकार ध्यानादिक तप करके कर्मोंका नाश करके आत्माका उपकार करता है। इसलिये खूब अच्छी तरह विचारा जायगा तो निश्चय होजायगा कि जीवका उपकार मात्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मसे है, जिस रत्नत्रयरूप आत्मानुभवके प्रतापसे जीवका सच्चा उपकार होता है। यह वर्तमा-

मानमें भी अतीन्द्रिय आनदका लाभ करता है और भविष्यमें यह शुद्ध होते होते परमात्मा होजाता है। तथा इन्हींसे देहका इतना अपकार होता कि देह धारणे योग्य जब कर्मका भी नाश कर दिया जाता तब देहका सम्बन्ध ही नहीं रहता। इसके सिवाय तपादि अनुष्ठान करनेसे शरीरकी चिंता मिटानी पडती है। रूखा सूखा भोजनका भाडा देकर इसे जिन्दा रखकर ध्यानका अभ्यास करना होता है। जिससे जो सुन्दरता, बलिष्ठपना, गृहस्थावस्थामें मनोज्ञ भोजन पानादिसे होती थी सो नहीं होती इससे शरीर क्षीण हो जाता है-स्नानादि न किये जानेसे धूल मैलसे लिप्त दिखता-जिससे ग्लानि होनेका निमित्त हो जाता है-दूसरे आत्माका उपकार करनेके लिये जब इन्द्रिय मनको वशकर तप सयम पाला जाता तब शरीरके आधीन पांचों इन्द्रियोंका बडा भारी अपकार होता उनकी इच्छाओंको रोका जाता-वे भोगनेमें नहीं आतीं, इससे उनका अपकार ही होता क्योंकि इन्द्रियोंका उपकार तो इन्द्रियोंके विषयोंके भोगसे है जो भोग आत्माके लिये हानिकारक हैं। इस तरह अच्छी तरह विचारनेसे निश्चय हो जाता है कि जो देहका उपकारी है वह जीवका अपकारी है तथा जो जीवका उपकारी है वह देहका अपकारी है।

श्री समाधिशतकमें कहा है कि आत्माका जिससे उपकार होता है उससे देहका नाश हो जाता है.-

देहान्तरगतेर्बीजं देहऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

भाव यह है कि शरीरको आत्मा रूप मान करके भोगविलासमें लिप्त होना ही अन्य देहकी प्राप्तिका बीज है जब कि शरीरसे मोह त्याग आत्मा हीमें आत्माकी भावना करना देह रहित होने अर्थात् बंधसे छूट स्वतंत्र होनेका उपाय है।

श्री आत्मानुशासनजीमें भी कहा है—

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात्।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः॥२५४॥

भाव यह है कि इस देह व उसके संबंधी इन्द्रियें व उनके भोगादि पदार्थ—इत्यादिके संयोगसे जैसे जल आगके संगमसे तप्त व क्लेशित रहता ऐसा मैं संतापित रहा हूं इसीलिये मोक्षके अर्थी इस देहको छोडकर अर्थात देहके सर्व सम्बन्धी पदार्थोंको छोड़कर परम शीतल अर्थात् परम निराकुल होगए हैं—इसीसे तत्ववेत्ताओंने इन्द्रियभोगोंके त्यागका उपदेश दिया है कि यद्यपि उनसे देहका उपकार होता है तथापि आत्माका तो अपकार ही होता है—

जैसा श्री अमितिगति आचार्य कहते हैं—

रे जीव! त्वं विमुंच क्षणरुचिचपलानिंद्रियार्थोपभोगा—
नोमिर्दुःख न नीतः किमिह भववनेऽत्यंतरौद्रे हतात्मन्॥
तृष्णा चित्ते न तेभ्यो विरमति विमतेऽद्यापि पापात्मकेभ्यः।
संसारात्यंतदुःखात्कथमपि न तदा मुग्ध! मुक्तिं प्रयासि॥४१०॥

भाव यह है कि हे मूर्ख हतात्मा जीव! तू इन क्षणभर चमकनेवाले विजलीके समान चंचल इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थोंको त्याग दे, क्योंकि संसारबनमें कौनसा ऐसा अति भयानक दुःख है जो तुझे इनके संगसे नहीं मिला—यदि हे निर्बुद्धि! आज भी तू इन पापी भोगोंसे अपने चित्तमें तृष्णाको नहीं हटाता है, तो हे मूढ! तू

किस तरह अत्यंत दु:खमई संसारसे मुक्ति प्राप्त करेगा? इस तरह यह खूब ध्यानमें जमा लेना चाहिये कि धनादि परिग्रह और विषयभोगोंके संगसे यद्यपि देहका उपकार है व दानादि करनेसे कुछ पुण्यबंध है तथापि आत्माका हर तरह अहित ही होता है—आत्माका हित तप ध्यान वैराग्यसे है जिनसे शरीरका हित नहीं होता, ऐसा जान शरीरके मोहमें पड़ धनादिकी वांछा नहीं करनी चाहिये तथा जीवका उपकार जो धर्म है उसीमें प्रीति रखनी चाहिये।

दोहा—आतम हित जो करत है, सो तनको अपकार।
जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार॥ १९॥

उत्थानिका—अब शिष्य फिर शंका करता है कि हे भगवन् यदि ऐसा ही है तो फिर यह क्यों कहते हैं कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" यह शरीर ही धर्मका मुख्य साधन है तथा ऐसा जानकर ही इस शरीरका यत्न किया जाता है कि इसमें रोगादि कष्ट न हों। कायकी आपत्तियोंका टालना दु:खकारी है ऐसा नहीं कहना चाहिये तथा ध्यान करनेसे कायका भी उपकार होता है जैसा कहा भी है।

तत्त्वानुशासनमें—

" यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम्॥ "

भाव यह है कि जो इस लोक संबंधी कुछ फल है व जो कुछ परलोक संबंधी फल है सो इन दोनों फलोंका मुख्य उपाय ध्यान ही है।

और भो यहा है कि " झाणस्स ण दुल्लहं किंपि " अर्थात् ध्यान करनेसे कोई वात कठिन नहीं है ।

भावार्थ–शिष्यका प्रश्न है कि शरीरसे आत्माका भला व आत्मध्यानसे शरीरका भला होता है इससे आपका कथन ठीक नहीं जमा सो समझाइये, तब गुरुने कहा कि ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ–आचार्यने समाधान किया कि शरीरको धर्मका साधक व्यवहारसे कहते हैं वास्तवमें यह बात नहीं है। वास्तवमें शरीरसे वैराग्य भाव ही धर्म है और उसीसे आत्माका उपकार होता है। यद्यपि आत्माके बसनेके लिये व तपादि करनेके लिये शरीर उपकारी है परन्तु यह कोई खास वात नही है। वह एक उदासीन निमित्त कारण है। यदि कोई वज्रवृषभनाराच संहनन व महा निरोगी शरीर धारी भी पावे ऐसा जो मुक्तिके लिये मुख्य सहकारी कारण है। परन्तु यदि वह शरीरमें रागी होकर विषय भोगोंमें तन्मय हो जाय तो आत्मा अवश्य दुर्गतिका पात्र हो जावे। और यदि शरीरका मोह त्याग आत्म ध्यान करे तो मोक्ष प्राप्ति हो जाय इसलिये धर्मके साधनमें मुख्य कारण अपना निर्वेद व संवेगभाव है अर्थात् संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य व धर्मसे प्रीति भाव है। शरीर कोई ऐसा समर्थ कारण नहीं कि उसके लाभसे ही हम धर्मात्मा हो जायंगे इसलिये ऐसी व्यवहारिक वातको यथार्थ विचारमें न लगाना चाहिये। दूसरी बात जो शिष्यने कही कि धर्मसे शरीरका भी उपकार होता है उसका समाधान यह है कि धर्म जो वास्तवमें वीतराग विज्ञानमई शुद्धोपयोग है उससे तो कर्मोंकी

निर्जरा होकर देहका उपकार ही होता है। हा धर्मके साधनमें जितने अंश अधर्म रहता अर्थात् कषायांशका उदय रहता वह कुछ पुण्य बाध शरीरका उपकारक हो जाता। यद्यपि ध्यानके करनेसे रागांशके कारण कुछ शरीरका उपकार होता परन्तु वह अति तुच्छ है तथा निश्चयसे वह यथार्थ आत्म ध्यानका फल भी नहीं है इस लिये ध्यानसे कायका उपकार होता है ऐसा कभी विचारना न चाहिये इसीको आगे कहते हैं–

श्लोक–इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः॥२०॥

सामान्यार्थ–एक ओर दिव्य चिन्तामणि रत्नकी प्राप्ति हो तथा दूसरी ओर खलका टुकड़ा मिले, यदि ध्यानसे दोनों मिलें तो विवेकी लोग किसका आदर करें? अर्थात् विवेकी खलके टुकडेको न लेकर चिन्तामणि रत्नका ही उपाय करेंगे–

विशेषार्थ–(इत) एक पक्षसे (दिव्य) देवाधिष्ठित (चिंतामणि) मनमें चिन्तवन किये हुए पदार्थको देनेवाले रत्न विशेषकी प्राप्ति हो (इत) दूसरी पक्षसे (पिण्याकखंडकं) बहुत ही तुच्छ खलीके टुकडेकी प्राप्ति हो। (चेत्) यदि (ध्यानेन) ध्यान करनेसे (उभे) दोनों (लभ्ये) अवश्य मिल सक्ते हों तो (विवेकिन) लोभके नाशके विचारमें चतुर बुद्धिमान जन (क) इन दोनोंमेंसे किसमें (आद्रियता) आदर करेंगे? अर्थात् जब ध्यान करनेसे चिंतामणिके समान मोक्षसुख खलीवत् मिल सक्ता है और लौकिक सुख भी मिल सक्ता है तब

विषयोंके लिये यही उचित है कि वे इस लोक सम्बन्धी फलकी इच्छाको त्यागकर परलोकके फलकी सिद्धिके लिये ही आत्माका ध्यान करें। कहा भी है।

"तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥"

भाव यह है कि इस लोकके फलकी इच्छा करनेवालोंके लिये जो ध्यान है उसे रौद्र वा आर्त्तध्यान कहते हैं-इस लिये इन दो दुर्ध्यानोंको छोडकर धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यानकी ही उपासना करनी योग्य है।

भावार्थ-यहांपर आचार्य कह रहे हैं कि यदि कोई किसीको एक हाथसे चिंतामणि रत्न दे और दूसरे हाथसे खलका टुकडा जो गाय भैंस खाती हैं उसे दे और कहे कि तुम जो चाहो सो लेलो तब विवेकी समझदार पुरुष खलके टुकडेको न ले करके चिंतामणि रत्न ही को लेनेके लिये इच्छा करके हाथ बढ़ाएगा और उस रत्नको ले लेगा। यह दृष्टांत है इसी तरहं दार्ष्टांत यह है कि ध्यान करनेसे मोक्ष सुख जो सर्वोत्कृष्ट, अनंत, स्वाधीन तथा अव्याबाध है सो मिलता है और उसी ध्यानसे यदि सर्व कर्म बंध न कटें तो देवगतिमें देव, इन्द्र, अहमिंद्रके पद मिलते हैं जो सबवण्ड छोटे हैं, अन्त सहित हैं, पुण्य कर्मके आधीन हैं तथा बाधा सहित हैं। तब ज्ञानी पुरुष छोटी वस्तुकी चाह न करके ऊंची वस्तुको ही चाहेगा। इससे वह ज्ञानी मोक्ष सुख लाभकी भावनासे ही

ही ध्यानका अभ्यास करेगा, सांसारिक सुखकी अभिलाषासे नहीं। आगममें ध्यान चार प्रकार बताया है। इनमें रौद्र व आर्त ध्यान अशुभ हैं तथा धर्म व शुक्ल ध्यान शुभ हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी के कभी भी धर्म व शुक्ल ध्यान नहीं होते हैं। ये ही ध्यान मोक्षके साधक हैं। यद्यपि कषायोंके तीव्र उदयकी अपेक्षा रौद्र व आर्त्त ध्यान पांचवें व छठे प्रमत्त गुणस्थान तक पाए जाते हैं तथापि मुख्यतासे उनका स्वामी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव है जिसने आत्म सुखके महत्वको नहीं जाना है और जो वैषयिक सुखमें ही अतिलोभी होरहा है। हिंसा, असत्य, चोरी तथा परिग्रहकी वृद्धिमें आनन्द मानकर रौद्र ध्यान करना व इष्टवियोगसे शोक, अनिष्टसंयोगसे मनमें ग्लानि, पीडा होनेपर खेद, तथा भोगाभिलाष रूप निदानमें तन्मयता करके आर्त्तध्यान करना मुख्यतासे मिथ्यादृष्टीके ही होता है—इन खोटे ध्यानोंका फल तो पापबंधन है—इनमें जो निदान भाव है वह जब धर्मध्यानसे मिला होता है अर्थात् धर्मध्यानके आगे पीछे चलता है तब उस धर्मध्यानसे जितनी कषायकी मंदतासे विशुद्धता परिणामोंकी होती है उससे पुण्य कर्म बंध जाता है वही इस लोक सम्बन्धी तुच्छ फलको देता है। तथा निदान भाव रहित धर्मध्यानसे अंतरंगमें कोई विषय चाह न होते हुए यदि सबसे उच्च शुद्धता प्राप्त न हो और कषायोंका अति मंद उदय रहे तो उस विशुद्धतासे भी पुण्य कर्मोंका बंध होता है—और इस पुण्यकर्मके उदयसे यह प्राणी सर्वार्थसिद्धि तक जाकर अहमिन्द्र हो जाता है। तथा

निदान भाव सहित पुण्यकर्म परंपराय हीन अवस्थाका भी कारण हो सक्ता है जब कि निदान रहित विशुद्ध भवसे बंधा पुण्यकर्म परंपराय उच्च अवस्थाका कारण हो सक्ता है तथा निदान सहित विशुद्ध भाव बहुत अल्प पुण्यको बांधता जब कि निदान रहित विशुद्ध भाव बहुत अधिक पुण्यको बांधता। जैसे लक्ष्मणके जीवने पूर्व जन्ममे तप करते हुए निदान किया इससे नारायण हो नर्क पधारे जब कि श्री रामचंद्रके जीवने पूर्व जन्ममें निदान नहीं करके तप किया तो इससे बलभद्र हो मोक्ष पधारे। जो निदान रहित तप व चारित्र दृष्टांतमें ९० अंश पुण्यबंध करा सक्ता वही निदान सहित तप व चारित्र ९ अंश पुण्यबंध करता है। इसलिये भोगोंकी व ऐहिक फलकी इच्छा करके आत्मध्यानके परिश्रमके फलको तुच्छ करना ठीक नहीं है—उचित यही है कि मोक्षके स्वाधीन अविनाशी सुखके लिये ही ध्यान करे—यदि तद्भव मोक्षगामी होगा तो शुक्ल ध्यानसे कर्म काट मुक्त होजायगा और जो कुछ भव शेष होंगे तो कषायांशसे अतिशयकारी पुण्य बांध देवादि गतियोंमें साताकारी सम्बंधोंमें प्राप्त होगा। इसलिये स्वाधीन होनेके लिये ही आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये। तथा ध्यानसे आत्माका ही उपकार होता है ऐसा निश्चय रखना चाहिये ऐसा ही श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीने कहा है—

बहिरब्भंतर किरिया रोहो भवकारणप्पणा सट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्म चारित्तं ॥ ४६ ॥

भाव यह है कि—सम्यग्ज्ञानी जीव संसारके कारणीभूत कर्म बंधनोंके नाशके लिये जब बाहरी काय वचनकी और भीतरी

मनकी क्रियाओंको बंदकर आत्मध्यानी होता है तब उसके निश्चय सम्यक्चारित्र होता है। संसारिक पदार्थकी वांछा कषायभावको जागृत रखनेवाली है जब कि इन कषायोंके नाशके लिये ही आत्मध्यान करना चाहिये जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं –

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे,
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं,
समदमयमशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥ २१३ ॥

भाव यह है कि जबतक निर्मल होने पर भी अति गहरे हृदय रूपी सरोवरमें कषाय रूपी मगरमच्छोंका चक्र सब तरफ वसता है तबतक निशंक होकर गुणोंके समुदाय उस आत्माका आश्रय नहीं करते इसलिये समता भाव, इन्द्रिय जय तथा यम आदि वीतराग भावोंसे उन क्रोधादि चार कषायोंके जीतनेका यत्न करो।

वास्तवमें कषाय भावसे ही दुःख है यही आत्माकी चैतन्य परिणतिको कलुषित कर देते है। इसलिये इन्हींके नाशके लिये आत्मध्यान करना चाहिये। ससारके किसी प्रयोजनकी इच्छा करके किया हुआ ध्यान कषाय नाशके लिये नहीं होता है।

दोहा–इत चिंतामणि महत्, उत खल टूक असार।
ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार ॥ २० ॥

उत्थानिका–इस प्रकार समझाए जानेपर शिष्यके अतरंगमें आत्मध्यानकी रुचि जागृत हो गई और वह श्री गुरुसे पूछता है कि हे महाराज! जिस आत्माके ध्यान करनेका आपने

उपदेश किया है वह आत्मा कैसा है-उसका स्वरूप क्या है? गुरु कहते हैं।

श्लोक-स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥२१॥

सामान्यार्थ-यह आत्मा स्वसंवेदनसे भले प्रकार प्रगट होने योग्य है, अपने प्राप्त शरीर प्रमाण आकार धारी है, अविनाशी है, अत्यंत आनंद स्वभाव है और लोक अलोकको देखने वाला है।

विशेषार्थ-(आत्मा) यह आत्मा नामा द्रव्य (लोकालोक विलोकन) जीव पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, इन पांच द्रव्योंसे सर्वत्र भरे हुए लोकाकाशको तथा उसके बाहर अलोकाकाशको दोनोंको सामान्य विशेष रूपसे परिपूर्णपने देखनेवाला है। इस विशेषणसे "ज्ञानशून्य चैतन्यमात्रम् आत्मा" इस सांख्यमतके अनुसार जो ऐसा मानते हैं कि ज्ञानसे रहित चैतन्यमात्र आत्मा है तथा "बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान्" इस योग मतके अनुसार जो यह श्रद्धा रखते हैं कि बुद्धि सुख आदि गुणोंसे रहित आत्मा है और बौद्धमतके अनुसार जो आत्माको नैरात्म्य अर्थात् अभाव मानता है इत्यादि मतोंका निराकरण करके आत्मा सदा ज्ञाताद्रष्टा है ऐसा स्थापित किया है (अत्यन्त सौख्यवान्) और आत्मा अतिशय सुखके स्वभावको धरनेवाला है इस विशेषणसे भी सांख्य और योगका मत निराकरण किया जो सुखको आत्माका स्वभाव नहीं मानते (तनुमात्र) फिर वह

आत्मा अपने पाए हुए शरीरके प्रमाण आकार रखता है–इस विशेषणसे जो आत्माको सर्वव्यापक या वनके बीज समान आकार वाला मानते हैं उनका निषेध किया (निरत्यय) और वह आत्मा द्रव्यरूपसे नित्य अविनाशी है इस विशेषणसे चार्वाकमतका खंडन किया जो आत्माको गर्भसे मरण तक ही मानता है, गर्भसे पहले और मरणके पीछे नहीं मानता है। यहांपर कोई शंका करे कि वस्तुकी जब प्रमाणसे सिद्धि हो जाय तब ही उसका गुणानुवाद करना ठीक है–सो आत्माकी सिद्धि प्रमाणसे होती नहीं इसके निराकरणके लिये कहते हैं कि वह आत्मा (स्वसंवेदनसुव्यक्त.) स्वानुभवके द्वारा भले प्रकार जाना जाता है। स्वसंवेदनका स्वरूप यह है–

" वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिन ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम ॥ ' (त०१०)

भाव यह है कि योगीका अपने ही द्वारा अपने स्वरूपका ज्ञेयपना और ज्ञातापना जो है उसीका नाम स्वसंवेदन है और उसीको प्रत्यक्ष आत्माका अनुभव कहते है।

यह आत्मा इस प्रकार लक्षण मई स्वसवेदन प्रत्यक्षसे जो सर्व प्रमाणोंमें मुख्य है। ऊपर कहे हुए गुणोंके द्वारा भले प्रकार स्पष्ट रूपसे योगियोंके द्वारा एक देश अनुभव किया जाता है।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने आत्माका स्वरूप कहते हुए पहले तो यही सिद्ध किया है कि आत्माकी सत्ता है जो कि अपने अनुभवसे ही प्रगट है, क्योंकि हरएकको यह भीतर झल्क

रहा है कि मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं या मैं आंखसे देखता हूं या कानोंसे सुनता हूं। यह चेतनपना जो मालूम हो रहा है वह जब किसी जड़ पदार्थका स्वभाव नहीं है तब अवश्य यह किसी अन्य द्रव्यका स्वभाव होना चाहिये–जिसका यह चेतनपना स्वभाव है वही मैं हूं या आत्मा है, इस अनुमानसे आत्माकी सिद्धि है तथा जब इस ज्ञानोपयोगको इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष मोह त्यागकर अपने ही स्वरूपमें अनुरक्त किया जाता है तब स्वयं एक ऐसी शांति तथा सुखमई अमृतरसका स्वाद आता है जिसको स्वानुभव या स्वसवेदन कहते हैं–इस स्वसवेदन प्रत्यक्ष प्रमाणसे अत्मा व उसके स्वभावकी सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध है–इतना कहनेसे आचार्यने यह भी प्रगट किया है कि प्रत्येक आत्माकी सत्ता भिन्न भिन्न है। जिस जिसको स्वसंवेदन होता है वह अपने आप ही आपको देखता है तथा प्रत्येकका आनन्दमई अनुभव जुदा जुदा है जो एक ही ब्रह्मके अंश जीवको मानते हैं उनके मतका निषेध बताया गया है क्योंकि अखंड ब्रह्म अमूर्तीकके खंड नहीं हो सक्ते–खंड न होने पर भिन्न२ अंश नहीं हो सक्ते–यदि भिन्न २ अंश न हो तो एकका स्वानुभव वही सबका होना चाहिये–सो यह बात प्रत्यक्षसे विरोधरूप है–छोटे दूध पीनेवाले बालकको उसके मातपिताका विषयभोगका स्वाद कभी नहीं आता है। न ऐसा है कि ब्रह्मका प्रतिबिम्ब जड़में पड़नेसे आत्मा हो जाता है ऐसा होनेपर घट पट आदि सर्व जड़ पदार्थोंमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ना चाहिये–तब सर्व ही जड़ चेतन हो जांयगे सो ऐसा नहीं है। प्रत्यक्षसे विरोधरूप है। इससे यही बात यथार्थ है कि

प्रत्येक आत्मा अपनी भिन्न २ सत्ता रखता है। जैसा कि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रगट है। दूसरी बात आचार्यने यह बताई है जैसा कि बताना चाहिये कि जब किसी पदार्थकी सत्ता मालूम हो जावे तब स्वयं ही यह प्रश्न उठता है कि वह पदार्थ कहां है अर्थात् उसने आकाशके कितने स्थानको रोका है-स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे आत्माकी सत्ता स्वीकार कर लेनेपर फिर वह कहां है इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि वह शरीरप्रमाण आकारका धारी है-हरएक आत्मा इस संसारमें उस शरीरके प्रमाण छोटा या बडा आकार रखता है जिसमें वह रहता है। जब शरीर छोटा होता है, आत्मा छोटा होता है जब शरीर बडा होता जाता आत्माका आकार भी फैलता जाता है। आत्मामें नाम कर्मके उदयसे अपने प्रदेशोंको संकोच विस्तार करनेकी शक्ति है। इसी कारण यदि कोई सिंहकी आत्मा एक वृक्षके शरीरमें आती है तो उस वृक्षके बीजसम आकारमें सकुचित हो जाती है। यह बात असंभव नही है। सूक्ष्म पदार्थोंमें यह शक्ति होती है। प्रकाश छोटे या बडे वर्तनके अनुसार सकुचित या विस्तृत हो जाता है। और उस प्रकाशका आकार भी उस वर्तनके आकारके समान हो जाता है।

आत्मा शरीर प्रमाण है तथा शरीरके अनुसार फैलता संकुचता है यह बात भी प्रत्यक्ष प्रगट है क्योंकि शरीरमें किसी भी जगहपर बाधा या सुख होनेसे उसका असर सर्व शरीरमें इकदम मालूम होता है-किसी प्रकार भय, क्रोध, व रागका असर सर्व शरीरपर पड़ता है। यद्यपि निश्चय नयसे इस आत्माका

आकार लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है तथापि उसकी प्रगटता केवल समुद्घातमें होती है, हर समय नहीं-शेष समयोंमें वह शरीर प्रमाण रहता है-इसमें इतनी विशेषता अवश्य है कि केवल समुद्घातके सिवाय छ समुद्घात और हैं जिनमें आत्माके प्रदेश मूल शरीरमें व्याप्त रहते हुए भी कुछ फैलकर बाहर निकलते और फिर शरीरप्रमाण हो जाते हैं-वे छ. समुद्घात हैं-१. **वेदना**-किसी पीडासे पीड़ित होनेपर प्रदेशोंका निकलना। २. **कषाय**-क्रोधादि कषायोंकी तीव्रतासे प्रदेशोंका निकलना। ३ **मारणान्तिक**-मरणके होनेके पहले आत्माके प्रदेश निकलकर उत्पत्तिके स्थानको स्पर्शकर पलट आते हैं। ४ **आहारक**-छठे प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिके दसमद्वारसे एक पुरुषाकार श्वेत पुतला निकलकर केवली श्रुतकेवलीके दर्शनार्थ दूर क्षेत्रमें जाता फिर पलट आता है। ५ **तैजस**-ऋद्धिधारी मुनिके दयादि परोपकार भावसे दाहने स्कन्धसे शुभ तैजस पुंज जीव प्रदेश सहित निकलकर उपसर्गोंको दूर कर देता तथा क्रोधके वश बाएं स्कंधसे अशुभ तैजस निकलकर नगरको व स्वयं मुनिको भस्म कर देता। ६-**वैक्रियिक**-देवोंके अनेक शरीर बन जाते उसमें आत्मप्रदेश रहते-ये ही रचित वैक्रियक शरीर इधर उधर जाते मूल शरीर स्थानमें कायम रहता। जो लोग आत्माको सर्व अनंत आकाशमें व्यापक या वट बीज सम बहुत छोटा मानते उनका निराकरण किया गया-क्योंकि सर्वव्यापक होनेसे शरीरसे बाहर स्थित पदार्थोंके भी स्पर्शका सुख दुःख मालूम होना चाहिये सो होता नहीं है। तथा वट बीज समान होनेसे स्पर्शका

अनुभव किसी एक अंशमें होना चाहिये सर्व शरीरमें न होना चाहिये सो होता नहीं, कहीं पर भी बाधा व साताकारी स्पर्शका निमित्त मिले, सर्व अंगमें दुःख व सुख अनुभवमें आता है-इस लिये शरीर प्रमाण विशेषण ठीक है।

तीसरा प्रश्न यह उठ सक्ता है कि वह आत्मा पदार्थ किसी खास समयमें पैदा हुआ है या कभी नष्ट हो जायगा उसका समाधान आचार्य निरत्यय विशेषणसे करते है कि वह एक सत् पदार्थ है, वह न तो कभी पैदा हुआ है और न कभी उसका नाश होगा-इस लिये वह द्रव्य तथा गुणसमुदायकी अपेक्षा अविनाशी है, यद्यपि पर्य्याय पलटनेकी अपेक्षा परिवर्तन शील व परिणामी है। सो ऐसी अवस्था प्रत्येक पदार्थकी है। पुद्गल भी अविनाशी द्रव्य है-उसके स्कध बनते व स्कधसे परमाणु बनते-उसके स्पर्शादि गुणोंमें पलटन होती परन्तु मूल द्रव्यमें पलटन नहीं होती-इसी तरह आत्मा द्रव्य है-यह जगत जैसे अनादि अनत अकृत्रिम तथा अविनाशी है वैसे उसके भीतर समस्त जीव पुद्गलादि पदार्थ अनादि अनंत अकृत्रिम और अविनाशी है। यह अटल नियम है कि सत्का विनाश व असत्का उत्पाद होता नहीं इसी लिये आत्मा सत् पदार्थ होनेसे अविनाशी है। ऐसा कहनेसे आचार्यने उनका निराकरण किया है जो किसी ईश्वरसे जीव आदि जगतके पदार्थोकी उत्पत्ति मानते व उनका नाश मानते है तथा जो जन्मसे मरण पर्यंत ही जीव मानते, परलोकमें जीवकी सत्ता नहीं स्वीकार करते अथवा जो आत्माको क्षणस्थायी मानते व मुक्तिमें आत्माका अभाव मानते या आत्माकी सत्ता ब्रह्म

या ईश्वरमें मिल जाती है ऐसा मानते हैं। आचार्यने इस विशेषणसे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा जैसे ससारकी अवस्थामें भिन्न सत्ता रखता ऐसे ही मुक्त होनेपर अपनी भिन्न सत्ताको कायम रखता है न किसीमें लय होता और न नाश होता है। आगे बताया है कि जिस सुखके लिये जगत चाहता है वह सुख कहीं अन्यत्र नहीं है किन्तु आत्माका स्वभाव ही सुख है—सुख परपदार्थमें नहीं है और न सुख इन्द्रिय भोगमें है। इन्द्रिय जनित सुख काल्पनिक कुछ वेदनाके मेटनेका क्षणिक इलाज है परन्तु द्विगुणित वेदनाको बढ़ानेवाला है इसी लिये आचार्य आत्माको अत्यन्त सौख्यवान् कहते हैं। सच्चा स्वाभाविक आनद आत्मामें है ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे तत्त्वज्ञानियोंको अनुभव होता है तथा साधारण रीतिसे जो स्वार्थ त्यागकर परोपकार करते उनको भी मालूम पड़ता है इस लिये आत्मा स्वभावसे परम सुखी है। मोह अज्ञान व निर्बलतासे उस सुखका अनुभव नहीं होता जब अनत ज्ञान, दर्शन, वीर्य्य, क्षायिक सम्यक्‌दर्शन और क्षायिक चारित्र गुण प्रगट होते हैं तब ही पूर्ण सुख गुण प्रगट हो जाता है। ऐसा कहनेसे आचार्यने यह सूचित किया है कि जो सुखके अर्थी हैं वे आत्माका अनुभव करो। उनको यहां भी सुख प्रगट होगा तथा जब स्वात्मानुभवकी पूर्ण सीमासे मुक्तिका लाभ होता तब वहां आत्मा पूर्ण आनदमय नित्य रहता है। जो कोई सुख गुण आत्माका नहीं मानते व मोक्षमें सुखका अभाव मानते हैं उनका निराकरण किया गया। आत्मद्रव्य सब द्रव्योंसे विलक्षण मुख्यतासे इस बातमें है कि इसमें चैतन्य गुण है जब कि अनात्मद्रव्योंमें चैतन्य गुण

नहीं है । इसीसे कहा है कि वह आत्मा लोक और अलोकको देखनेवाला है–अर्थात् आत्मा दीपकके समान ज्ञाता दृष्टा है। जैसा दीपक स्वपर प्रकाशक है वैसे आत्मा अपनेको भी जानता और परको भी जानता है । ऐसा कहनेसे आचार्यने दिखाया है कि यह आत्मा ज्ञानसे शून्य कभी नहीं होता–ससारावस्थामें ज्ञानावरणके निमित्तसे उसका ज्ञान पूर्ण प्रगट नहीं होता पर जब ज्ञानावरण कर्म हट जाता तब आत्मा सर्वज्ञ हो जाता–यह सर्वज्ञता सदा ही बनी रहती है–मुक्ति पाने पर भी सर्वज्ञ रहता है । ज्ञान रहित कभी होता नहीं । तथा ज्ञान गुण कभी भी आत्मासे भिन्न नहीं होता–जैसे अग्निका तादात्म्य सम्बन्ध उष्णतासे है ऐसे ही आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध चैतन्य गुणसे है ।

श्री देवसेन आचार्यने तत्त्वसारजीमें कहा है–

मलरहिओ णाणमओ णिवसई सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥
णोकम्म कम्म रहिओ केवल णाणाइ गुण समिद्धो जो ।
सोऽहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालम्बो ॥२७॥
सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणाइ गुण समिद्धोहं ।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तोय ॥२८॥

भाव यह है कि जैसे कर्म मल रहित ज्ञानमई सिद्ध भगवान सिद्ध लोकमें निवास करते हैं वैसे इस देहके भीतर परमब्रह्म है ऐसा जानना चाहिये । जैसे सिद्ध भगवान नोकर्म शरीरादि कर्म्म भावकर्म रागद्वेषादि द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि इनसे रहित, तथा केवलज्ञान आदि–गुणोंसे परिपूर्ण, शुद्ध,

अविनाशी, एक निराला, परालम्बसे रहित हैं वैसे ही मैं हूं-निश्चयसे मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य्यादि गुणोंसे पूर्ण हूं, अविनाशी हूं, देह प्रमाण होकरके भी असंख्यात प्रदेशी हूं, तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण व क्रोधादिकी कलुषतासे रहित होनेके कारण अमूर्तीक हूं। अपनी देहमें आत्माको सर्वसे निराला उसका यथार्थ स्वरूप इसी तरहका निर्मल जलवत् निर्मल है ऐसा ही निश्चय रखना चाहिये। तात्पर्य यह है कि स्फटिक मूर्तिवत् निर्मल आत्माको ऊपर लिखे अनुसार निश्चय करके ध्याना चाहिये।

दोहा-निज-अनुभवसे प्रगट है, नित्य शरीर प्रमाण।
लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान॥ २१॥

उत्थानिका-अब शिष्य प्रश्न करता है कि यदि इस प्रकार आत्माका स्वरूप है तब उसकी सेवा किस तरह करनी चाहिये। आत्मसेवाका उपाय कहिये तब श्री गुरु कहते हैं:-

श्लोक-संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं॥२२॥

सामान्यार्थ-चित्तकी एकाग्रतासे इन्द्रियोंके ग्रामको संयममें धारणकर आत्मज्ञानी अपने आत्माके ही द्वारा अपने आत्मामें विराजमान अपने आत्माको ध्यावे।

विशेषार्थ-(आत्मवान) इंद्रिय और मनको वशमें रखनेवाला अथवा स्वाधीनताका अभ्यास करनेवाला पुरुष (चेतसः) मनकी (एकाग्रत्वेन) एकाग्रतासे अर्थात् मनको आत्माद्रव्यमें व

उसकी पर्यायमें मुख्यतासे आरूढ़ करके अथवा पूर्वापर पर्यायोंमें चला आया हुआ ज्ञान है मुख्य जिसमें ऐसे आत्माका ग्रहण जिसके । उस रूप मनकी परिणति करके (करणग्राम) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन पांच इंद्रियोंके समुदायको (संयम्य) उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, और शब्द विषयोंसे हटा करके (आत्मनि) अपने आत्मामें (स्थितं) तिष्ठे हुए (आत्मान) ऊपर कहे हुए प्रमाण निज आत्माको (आत्मना एव) अपने ही आत्माके स्वसंवेदन द्वारा (भावयेत्) ध्यावे । क्योंकि आत्माके जाननेमें आप ही कारण है-दूसरे किसी भी कारणका अभाव है । जैसा कहा है-तत्त्वानुशासनमें—

" स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात् न तस्य करणांतरम् ।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥ "

भाव यह है कि आत्मा स्वपर ज्ञायकस्वरूप है इस लिये उसके जाननेके लिये दूसरे कारणकी आवश्यका नहीं है इस लिये सर्व चिंता छोडकर स्वसंवेदनके द्वारा ही आत्माका अनुभव करना चाहिये ।

क्योंकि सर्व पदार्थोंका निश्चयसे आधार उनका स्वरूप ही है इस लिये कहा है कि अपने आत्मामें तिष्ठे हुए आत्माको ध्याओ । अर्थ यह है कि जिस तरह हो व जहां कहीं हो श्रुतज्ञानके आलम्बनसे अपने आत्मामें ही मनको लगाकर तथा इन्द्रियोंको रोककर और अपने आत्माकी ही भावना करके और उसीमें एकाग्रता प्राप्तकर सर्व चिंता छोड स्वसंवेदनके द्वारा ही आत्माका अनुभव करे । कहा भी है—

" गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेग भाविज्जा।
जो ण हु सुयमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावो ॥२॥"

भावार्थ—श्रुतज्ञानके आलम्बनसे आत्माको जानकर पीछे स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका अनुभव करना चाहिये। जो श्रुतज्ञानका आलम्बन न रक्खेगा वह आत्मस्वभावमें मूढ़ रहेगा—वह यथार्थ स्वरूपकी श्रद्धा नहीं करसकेगा। और भी कहा है—

आचार्यने समाधिशतकमें—

" प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंदनिर्वृतम् ॥३२॥ "

भाव यह है कि मैं अपनेको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाकर अपने ही द्वारा अपने स्वरूपमें विराजित ज्ञान स्वरूप और परमानंदसे पूर्ण आत्माको प्राप्त हुआ हूं।

भावार्थ—यहांपर आचार्य आत्मध्यानका उपाय बताते हैं। ज्ञानोपयोगकी किसी ज्ञेयमें थिरताका नाम ध्यान है। आत्मारूपी ज्ञेय पदार्थमें ज्ञानकी थिरताको आत्मध्यान कहते हैं। मन ही विचार करनेवाला है। इस मनके द्वारा भले प्रकार शास्त्रोंके रहस्यको अवगाहन करना चाहिये जिससे यथार्थ स्वरूप आत्माद्रव्य, उसके अनेक गुण, स्वभाव व उसकी पर्यायोंका विदित हो जावे। आत्मामें नित्यत्त्व, अनित्यत्त्व, अस्तित्त्व, नास्तित्त्व, एक अनेक भेद अभेद आदि अनेक स्वभाव हैं जिनका ज्ञान स्याद्वाद नयके द्वारा होता है क्योंकि ये स्वभाव परस्पर विरोधी हैं तथापि इनको माने विना शिष्यको पदार्थका वास्तविक स्वरूप नहीं

मालूम होसक्ता-भिन्न२ अपेक्षासे विरोधी स्वरूप पदार्थमें पाए-जानेमें कोई विरोध नहीं है जैसे एक ही युग मनुष्यमें अपने पिताकी अपेक्षा पुत्रत्त्व और अपने पुत्रकी अपेक्षा पितृत्त्व, अपने मित्रकी अपेक्षा मित्रत्त्व और अपने शत्रुकी अपेक्षा शत्रुत्त्व एक ही कालमें पाए जाते हैं वैसे गुण और द्रव्यकी सदाकाल स्थिति रहनेकी अपेक्षा नित्यत्त्व, उनके परिणमन होनेसे पहली परिणतिका व्ययहोकर नवीन परिणति उत्पन्न होनेकी अपेक्षा अनित्यत्त्व, अपने द्रव्य, क्षेत्र काल। भावकी अपेक्षा आस्तित्त्व, परके द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्त्व,अ प अखड अनेक गुण समुदाय है इस अपेक्षा एक रूप तथा अनेक गुण आत्मद्रव्यमें सर्वांग व्यापक हो रहे हैं इस अपेक्षा अनेक रूप सर्व गुणोंका कभी छूटना न होगा। इस अपेक्षा अभेद तथा प्रत्येक गुण अपने २ भिन्न स्वरूपको रखनेवाला है इससे भेद इस तरह अनेक विरोधी स्वभावोंका ज्ञान भिन्न २ अपेक्षासे करना चाहिये जिसके लिये स्याद्वादनय उपयोगी है-स्यात् अर्थात् किसी अपेक्षासे नय अर्थात् विचार जब हम वस्तुको नित्य कहते तब उसके गुणोंकी स्थितिकी अपेक्षा जब अनित्य कहते तब उसकी पर्यायोंकी अपेक्षा-द्रव्य गुणपर्याय स्वरूप है। आत्मामें सामान्य विशेष अनेक गुण है-अस्तित्त्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्त्व, द्रव्यत्त्व, प्रदेशत्त्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य तथा चैतन्य, आनद, चारित्र, सम्यक्त आदि विशेष गुण है-इन गुणोंके समुदायका नाम आत्मा है-गुण गुणीसे कभी जुदे होते नहीं-किन्तु परद्रव्यके असरसे अप्रगट रहते व कम प्रगट रहते और जब परद्रव्य पुद्गलकर्म्मका आवरण बिलकुल हट जाता

तब पूर्णपने प्रगट हो जाते। अपना आत्मा पुद्गलकर्मोंके सम्बन्धमें अनादिकालसे हो रहा है जिससे इसके स्वभाव पूर्ण प्रगट नहीं है तौभी वह स्वभाव जैसाका तैसा वस्तुमें मौजूद है—स्वभावकी सत्ता कहीं चली नहीं गई है— आवरण मिटनेसे जैसीकी तैसी प्रकाशित होगी—इससे जैसे जल कर्दम मिश्रित होने पर भी ज्ञानीद्वारा जलका स्वभाव निर्मल और कर्दमका स्वभाव मलीन विचारा जाता है उसी तरह भेद विज्ञानीद्वारा आत्मा कर्ममलसे मिश्रित होने पर भी आत्माका स्वभाव शुद्ध वीतराग ज्ञानानंदमय अमूर्तीक तथा कर्ममलका स्वभाव अशुद्ध, रागद्वेषकारक, अज्ञान, दुःखरूप तथा मूर्तिक विचारा जाता है। तिलोंमें भूसीसे जैसे तेल भिन्न विचारा जाता वैसे अपनेमें औदारिक, तैजस, कार्माण इन तीन शरीरोंसे भिन्न आत्मद्रव्यको शुद्ध विचारा जाता है। यह सब विचार शास्त्रज्ञानके विना होना असंभव है इसीलिये जिनवाणीका अच्छी तरह अभ्यास करके शास्त्रके मर्मको समझना चाहिये तब परोक्ष होनेपर भी आत्माकी प्रतीति प्रत्यक्षके समान हो जायगी। आत्माके स्वरूपके ज्ञानके लिये गुरुउपदेश, शास्त्राभ्यास, युक्तिसे विचार तथा अनुभव इन चार बातोंकी आवश्यक्ता है। सो इनके द्वारा भले प्रकार आत्माका स्वरूप निश्चय करलेना चाहिये—जैसे चिर अभ्यास करनेवाले चतुर सुनारको सुवर्ण चादी मिश्रित होनेपर भी सुवर्ण और चांदीका कितना २ वज़न है सो अलग अलग दिख जाता, वैसे भेद विज्ञानका चिर अभ्यास करनेवाले चतुर पुरुषको अपनी अथवा दूसरी आत्मा यद्यपि कर्म पुद्गलसे मिश्रित है तथापि उसका

स्वरूप भिन्नभिन्न प्रतीतिमें आजाता है। वह ज्ञानी दृष्टि फेंकते ही शुद्ध आत्माको अलग करके देखलेता है। इस तरह जिसने श्रुतज्ञानके वलसे आत्माको जाना है वही आत्मा ध्यान करसक्ता है। ऐसा आत्मज्ञानी भव्य पुरुष जिसकी रुचि इन्द्रियोंके विषय भोगोंसे हट गई है और आत्माके अतीन्द्रिय आनंदकी प्राप्तिकी तरफ बढ गई है सो अपने मनको आत्माद्रव्यमें, व उसके किसी एक गुणमें व उस गुणकी किसी पर्यायमें लीन करे—इस तरह पांचोंइन्द्रियोंका सयम हो जायगा अर्थात् वे अपने २ विषयोंकी इच्छा बद करेंगी। तब ऐसा जितेंद्रिय भव्य-जीव अपने ही आत्माके अंदर विराजित अपने ही आत्माके स्वभावको अपने ही आत्माके द्वारा ध्यावे। अर्थात् आप आपमें लीन होकर अपनेसे ही अपना अनुभव करे यही आत्माकी सेवाका प्रकार है। क्योंकि वास्तवमें सेव्य और सेवक एक ही है। वही तो सेवा या ध्यान करने योग्य है और वही सेवा या ध्यान करनेवाला है। इस लिये जब आप आपमें लीन होता है तब ही आत्मानुभव या आत्मध्यान होता है—इसी अवस्थामें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। समयसारजीके कलसोंमें आत्मध्यानका प्रकार इस भाति कहा है:—

स्याद्वादकौशल सुनिश्चल संयमाभ्यां,
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रिया नय परस्पर तीव्रमैत्री।
पात्री कृतः श्रयति भूमि मिकां स एकः ॥२१॥

भाव यह है कि जो कोई स्याद्वाद नयकी कुशलता तथा अति निश्चल संयमभावके द्वारा निरंतर आपमे तन्मय होकर

आपको ही ध्याता है सो ही एक महात्मा ज्ञान और चारित्र दोनोंकी एकता रूप तीव्र मैत्रीको प्राप्त करता हुआ मोक्ष मार्गकी भूमिकाको आश्रय करता है। और भी कहा है.—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्ध नयावलम्बी।
विलीन मोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथाऽवलम्बे॥

भाव यह है कि अब मैं भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी समस्त ही कर्मोको भेद ज्ञानके द्वारा हटाकर शुद्ध निश्चय नयका अवलम्बी हो मोहको छोड़ सर्व रागादि विकारोंसे रहित चैतन्य मात्र ही आत्माका अवलम्बन करता हू।

श्री देवसेन आचार्यने तत्त्वसारमें भी कहा है:—

उक्के मण संकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे।
पयडइ बंभसरूवं अप्पा झाणेण जोइण॥२९॥

भाव यह है कि मनके सकल्प मिट जानेपर इन्द्रियोंके विषय व्यापार रुक जानेपर योगीको आत्माध्यानके द्वारा अपना ब्रह्मस्वरूप प्रगट हो जाता है। इस तरह आत्मध्यान उपादेय है जिसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

श्री नेमिचंद्र महाराजने भी द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

दुविहं विमोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥

भाव यह है कि निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकारके मोक्ष मार्गको क्योंकि मुनि ध्यान करनेसे पालेता है इस लिये तुम लोग प्रयत्नचित्त होकर अच्छी तरह ध्यानका अभ्यास करो।

दोहा-मनको कर एकाग्र सव, इन्द्रिय विषय मिटाय ।
आतमज्ञानी आतमें, निजको निजसे ध्याय ॥ २२ ॥

उत्थानिका-आगे शिष्यने प्रश्न किया कि हे भगवान्! आत्माकी सेवासे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा क्योंकि फलकी प्रतीति होने हीसे विद्वानोंकी प्रवृत्ति उसके कारणरूप कार्य्यमें होती है। इसीका आचार्य समाधान करते हैं-

श्लोक-अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ २३ ॥

सामान्यार्थ-अज्ञानकी उपासना अज्ञानको तथा ज्ञानी आत्माकी उपासना ज्ञानको देती है क्योंकि यह प्रसिद्ध वात है "जिसके पास जो होता है वही देता है।"

विशेषार्थ-(अज्ञानोपास्ति.) अज्ञानकी उपासना अर्थात् शरीर आदि पर पदार्थोंमें आत्मपनेकी भ्रांति अथवा संदिग्ध अज्ञानी गुरु आदिकी सेवा (अज्ञान) संशय, विमोह, विभ्रमरूप अज्ञानभावको तथा (ज्ञानिसमाश्रय) ज्ञान स्वभाव आत्माकी अथवा ज्ञान सम्पन्न गुरु आदिकी एकचित्त हो सेवा ऐसी कि जहां दूसरेकी सेवा न हो (ज्ञान) अपने स्वरूपका वोध (ददाति) देती है। कहा भी है-

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥१७६॥
(आत्मा०)

भाव यह है कि-सम्यग्ज्ञानमे प्रेम करनेसे प्रशंसनीय व अविनाशी ज्ञान (केवलज्ञान)का होना ही फल है। अहो यह मोहका

महात्म्य है जो इस जगतमें कुछ और ही फल ढूंढा जाता है अर्थात जगतके लोग विषय सामग्री फलकी वांछासे ही धर्म कर्म करते हैं-यह उनका तीव्र संसारसे मोह है। यहां दृष्टांत देते हैं-(यस्य) जिसके पास (धत् अस्ति) जो वस्तु स्वाधीनपने होती है (तु दयाति) वह किसीसे सेवा किये जानेपर उसी ही वस्तुको अपने सेवकके लिये देता है (इदं) यह (वचः) वाक्य (सुप्रसिद्धम्) लोकमें अच्छी तरह माना हुआ प्रसिद्ध है इसलिये हे भद्र! ज्ञानी आत्माकी या ज्ञानी गुरुकी उपासना करके जिसे आपापरके भेद विज्ञानकी ज्योति प्राप्त हो गई है उसे अपने आत्मामें विराजित अपने आत्माको ही अपने आत्माके द्वारा ध्याना चाहिये।

भावार्थ-आचार्य शिष्यके प्रश्नका समाधान इस भांति करते है कि जो कोई आत्माके यथार्थ स्वरूपको जिनवाणीके द्वारा युक्ति पूर्वक मनन करेगा और मनन करते करते उसके भीतर यह भेदज्ञान पैदा हो जायगा कि मैं आत्मा हू-मेरा स्वभाव सिद्धके समान है तथा यह कर्म आदि सब पर है और वह भव्य जीव इस भेद ज्ञानके बलसे निज आत्माको निज आत्मस्वभावके द्वारा एकाग्र हो ध्यायेगा तब वह इस शुद्ध आत्माके ध्यानके बलसे स्वयं शुद्ध आत्मा सर्वज्ञ वीतराग हो जावेगा-यही सम्यग्ज्ञानका फल है कि उससे पूर्ण केवलज्ञान हो जावे-ऐसा कि तत्वानुशासनमें कहा है कि-

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

भाव यह है कि आत्मज्ञानी जिस भावके द्वारा जिस रूप

आत्माको ध्याता है उसी ही भावके साथ वह तन्मई हो जाता है जैसे फटिकमणिमें जैसे रंगकी डाककी उपाधि लगे वह उसी रूप परिणमन कर जाती है। इसलिये शुद्ध आत्माके अनुभवसे अवश्य शुद्धात्मा हो जाता है। इसीके विरुद्ध यदि मिथ्याज्ञानकी आराधना की जाय तो मिथ्याज्ञान ही फल प्राप्त होगा। आत्माका यथार्थ स्वरूप न जानकर जो अज्ञानसे आत्माको कुछका कुछ जान करके सेवा करते हैं अथवा अज्ञानी व संदिग्ध गुरुकी सेवा करते हैं तो उनको इस सेवाके फलसे अज्ञानकी ही प्राप्ति होती है—या तो वे यथार्थ पदार्थमें संशय युक्त रहेंगे कि ऐसा है कि नहीं, या वे विपरीतको जान लेंगे, या उनकी समझमें कुछ न आनेसे वे ज्ञानकी प्राप्तिमें मूढ बुद्धि बेपरवाह इच्छा रहित हो जांयगे—जैसी भावना की जाती है वैसी फलती है। जगतमें भी यही बात प्रसिद्ध है कि यदि धनीकी सेवा करोगे तो वह धन देगा, विद्वानकी करोगे विद्या देगा, गानविद्या कुशलकी करोगे गाना सिखा देगा, व्यसनीकी करोगे व्यसनमें फंसा देगा। तात्पर्य कहनेका यह है—अज्ञानी गुरुकी व अज्ञानकी भक्ति कभी भी नहीं करनी चाहिये—ज्ञानी गुरुकी भक्तिसे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर स्वयं आत्मध्यान करना चाहिये जिसका फल शुद्धात्मलाभ होगा—

श्री समयसार कलशमें भी कहा है—

ये ज्ञानमात्र निजभावमयीमकम्पां।
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीत मोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः।
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ २० ॥

भाव यह है कि जो कोई किसी भी तरह मोहको हटा करके निष्कम्प आत्मज्ञानस्वरूप भूमिका आश्रय लेते हैं वे साधकपनेको पाकरके सिद्ध हो जाते हैं परंतु जो मूर्ख है वे इसे न पाकरके संसारमें भ्रमण करते हैं इस लिये आत्मज्ञानकी ही भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासनमें और भी कहा है—

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

भाव यह है कि वार वार सम्यग्ज्ञानका विस्तार करके तथा जैसे पदार्थोंकी स्थिति हैं उनको वैसा ही देखता हुआ राग द्वेषको छोडकर अध्यात्म ज्ञानी मुनि अपने स्वरूपका ध्यान करे। यथार्थ आत्माका अनुभव करनेसे यहां भी परमानद प्राप्त होता है और भविष्यमें भी नित्य परमानंद स्वरूप मोक्षमें पहुच जाता है ऐसा कि समयसार कलशमें कहा हे—

य पूर्वभावकृतकर्म्मविषद्रुमाणां।
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकाल रमणीय मुदर्करम्यं।
निःकर्म शर्म मयमेति दशान्तरं सः ॥३९॥

भाव यह है कि जो कोई पूर्व भावोंसे बाधे हुए कर्मरूपी विषवृक्षोंके फलोंको नहीं खाता है अर्थात् पूर्वकर्मके उदयसे प्राप्त सुख व दुःखोंमें तन्मई नहीं होता है तथा अपने स्वरूपमें ही तृप्त होता है वह ऐसी एक दशाको पहुंच जाता है जो वर्तमानमें भी रमणीक है और भविष्यमें भी सुन्दर है अर्थात वह कर्म प्रपंच रहित आनन्दमई अवस्थाको प्राप्त कर लेता है अर्थात् अपने

आत्मध्यानसे यहां भी आनंद भोगता है और भविष्यमें भी आनंद भोगेगा।

दोहा:—अन्नभक्ति अज्ञानको, ज्ञान भक्ति दे ज्ञान।
लोकोक्ति जो जो धरे, करै सो सेवक दान ॥२३॥

उत्थानिका—और भी शिष्य पूछता है कि अध्यात्ममें लीन ज्ञानीको और क्या फल होता है अर्थात् जिसको ध्यानकी सिद्धि हो गई है उस योगीके अपने आत्मध्यानसे और क्या फलकी प्राप्ति होती है? आचार्य इसीका समाधान करते हैं:—

श्लोक-परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥२४॥

सामान्यार्थ—आत्मध्यानसे परिषह आदि केन अनुभव करनेसे आश्रवको रोकनेवाली कर्मोंकी निर्जरा शीघ्र हो जाती है।

विशेषार्थ—(अध्यात्मयोगेन) अपने आत्मध्यानके बलसे (परीषहादि अविज्ञानात्) क्षुधा आदि बाईस परिषह तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतनकृत उपसर्गोंसे उत्पन्न हुई बाधाओंको न अनुभव करनेसे (आश्रवस्य) नवीन कर्मवर्गणाओंके आनेकी (निरोधिनी) रोकनेवाली (कर्मणा) सिद्ध योगीकी अपेक्षा अशुभ और शुभ कर्मोंकी और साध्य योगीकी अपेक्षा असातावेदनी आदि अशुभ कर्मोंकी (निर्जरा) निर्जरा या एक देश क्षीणता (आशु) शीघ्र (जायते) हो जाती है—ऐसा ही कहा है—

"यस्य पुण्यं च पापं च निःफलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्व्वाण न तस्य पुनरास्रवः" ॥१॥

भाव यह है जिसके पुण्य पाप दोनों फलरहित हो स्वयं

गल जाते हैं वही योगी है उसीके मोक्ष हो जाती है और फिर उसके कर्मोका आश्रव नहीं होता है–

और भी कहा है:–

तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्ज्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्मणां॥

भाव यह है कि तैसे ही जो ततभव मोक्षगामी नहीं हैं उसके सदा ध्यानके अभ्यास करनेसे सर्व अशुभ कर्मोकी निर्जरा व उन्हींका संवर होता है।

और भी समाधिशतकमें कहा है–

"आत्मदेहांतरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुःकृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते" ॥३४॥

आत्मा और शरीरादिके भेदविज्ञानसे उत्पन्न जो आनन्द उससे भरा हुआ योगी तपके द्वारा घोर उपसर्गोको भोगता हुआ भी खेदको प्राप्त नहीं होता है।

यह सब कथन व्यवहारनयसे कहा गया है। तब शिष्यने यह शंका की कि जिन कर्मोकी निर्जरा होती है उनका सम्बन्ध तब कैसे नहीं होता है। आचार्य कहते हैं हे वत्स! सुन, चैतन्य आत्माके साथ साथ बंधमें चले आनेवाले पुद्गल परिणाम रूप द्रव्यकर्मोकी एक देश अलग होना है लक्षण जिसका ऐसी निर्जरा होती है। दो द्रव्योंका ही संयोग पूर्वक विभाग होना संभव है। पहले उनका सम्बन्ध रागादि भावोंसे हुआ था अब वीतराग भावसे उनकी निर्जरा होती है। जब योगी अपने स्वरूपमें स्थित कररहा है तब उसके उस समय किस तरह द्रव्यकर्मोका सम्बन्ध

होना संभव है। सूक्ष्मदृष्टिसे विचारकर किसी भी तरह सभव नहीं है-अर्थात् उस समय नवीन कर्म भी नहीं बधते-जब निश्चयसे आत्मा ही ध्येय और ध्यान हो जाता है तब सर्व तरहसे ही आत्मा परद्रव्यसे छुटकर अपने स्वरूपमात्रमें स्थिति प्राप्त कर लेता है ऐसी दशामें उसके द्रव्यकर्मोंका सम्बन्ध निषेध है। संसारीके ऐसा होना संभव नहीं है। ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि संसारके तीरको प्राप्त अयोगी आत्मा मुक्त आत्माके समान शरीरमें अ-इ-उ-ऋ-ऌ ये पांच अक्षर जितनी देरमें कहे जाँय उतनी देर मात्र ठहरता है-कर्मनाशके सन्मुख योगीके उत्कृष्ट शुक्ल ध्यानके संस्कारके कारण उतनी ही देर ही कर्मोंकी परतंत्रताका व्यवहार है-ऐसा ही परमागममें कहा है-

" सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयाविप्पमुक्को गय जोगो केवली होदि ॥ "

भाव यह है कि शीलकी या चारित्रकी श्रेष्ठताको प्राप्त जीव सर्व आश्रवको रोककर कर्म्मरजसे छुटा हुआ अयोग केवली हो जाता है।

भावार्थ-यहा पर आचार्य्य आत्मध्यानका फल संवर और निर्जराको बता रहे हैं। जब योगी आत्मध्यानमें लवलीन होता है ऐसा कि उत्तम ध्यानको प्राप्त होता है तब इसके निर्विकल्प समाधि भाव जागृत होता है उस समय क्षुधा तृषा आदि परीषहोंकी व किसी उपसर्गकी बाधाको बिलकुल अनुभव नहीं करता है। तब उस निश्चल ध्यानके प्रतापसे कर्मोंकी शीघ्र निर्जरा हो जाती है। और केवलज्ञानरूपी सुर्य्यका उदय हो जाता है। जैसे

पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि जब देशभूषण कुलभूषण मुनिको देवकृत उपसर्ग हुआ तब उनकी एकाग्र परिणतिसे वे केवलज्ञानी हो गए। इसी तरह जब शेत्रुंजय पर्वतपर पाच पांडवोंको मनुष्यकृत उपसर्ग हुआ तब युधिष्टिर, भीमसेन, अर्जुन आत्मध्यानमें निश्चल रहे, कोई भी विकल्प न किया इस लिये सर्व कर्मोको नाशकर अंतकृत्केवली हो गए परंतु नकुल, सहदेवको उपसर्गकी तरफ उपयोग चला जानेसे व अपने भाइयोंकी ओर मोह उत्पन्न हो जानेसे ध्यानमें विकल्पता होकर केवलज्ञानकी प्राप्तिके योग्य न कर्मोकी निर्जरा हुई और न आश्रवका ही निरोध भया इससे वे देवगति बांध सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुए। आत्मध्यानकी निश्चलतासे ही अयोग गुणस्थानमें केवलीभगवान सर्व आश्रवोंका निर्णय कर देते हैं फिर पंच लघु अक्षर उच्चारण कालमें ही सर्व अशुभ कर्मोकी निर्जरा हो जाती है और वे मुक्त हो जाते हैं। जो मुनि उसी भवसे मोक्ष जानेवाले नहीं होते उनके परम निश्चल ध्यान नहीं हो पाता है। उनको यदि परिषह व उपसर्ग पडते हैं तब वे अनित्य अशरण आदि बारह भावनाओंके चिन्तवनसे उस उपसर्गकी पीडाको समभावसे सहते हैं तब उनके पापकर्मोका संवर व उनकी निर्जरा हो जाती है परंतु पुण्यकर्मोका आश्रव नहीं बंद होता है और न पुण्यकर्मोकी निर्जरा होती है। आत्माका अनुभव करते हुए जो आल्हाद होता है उस सुखके स्वादमें मगन योगीको परीषहोंकी बाधा ध्यानके मार्गसे गिराकर क्षोभमें नहीं पटकती है। जैसे अग्निका ताव सुवर्णके मैलको काटता है वैसे आत्मध्यानकी अग्नि कर्म मलको निकालती और नए कर्म

मैलको नहीं आने देती है। आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर निश्चयकर व उसका अभ्यास करनेसे आत्मज्ञानकी जैसे वृद्धि होती वैसे ही अशुभ कर्मोंकी निर्जरा भी होती है और उनका संवर भी होता है; वास्तवमें आत्मध्यानमें बहुत बडी शक्ति है.—

श्री समयसारकलशमें कहा है।—

एको मोक्षपथो य एष नियतोद्दग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक—।
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च ते चेतति ॥
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन् ।
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥४७॥

भाव यह है कि जो कोई निश्चय नियमरूप सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमई जो मोक्ष मार्ग है उसमें ही ठहरता है, उसे ही रातदिन ध्याता है व उसीका ही अनुभव करता है व अन्य द्रव्योंको न छूता हुआ उसीमें ही निरंतर विहार करता है सो अवश्य ही नित्य उदयरूप समयसार या शुद्धात्म स्वरूपको शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। ऐसा जानकर भव्य जीवोंको निरंतर निज आत्माके स्वरूपमें ही एकाग्र हो भवफंद काट निर्द्वन्द्व हो परमानंदका लाभ करना चाहिये।

दोहा—परीषहादि अनुभवविना आतमध्यान प्रताप ।
शीघ्र सुसंवर निर्जरा, होत कर्मकी आप ॥ २४ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य बताते हैं कि आत्मध्यानमें किसी अन्यका सम्बन्ध नहीं होता है। आप ही ध्याता है आप ही ध्येय है।

श्लोक-कटस्य कर्त्ताहमिति संबंधः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबंधः कीदृशस्तदा ॥२५॥

सामान्यार्थ-मैं चटाईका बनानेवाला हूं, इसमें अवश्य दो भिन्न २ द्रव्योंका सबन्ध है परंतु जहां आत्मा ही ध्यानरूप है और वही ध्येयरूप है तब सम्बन्ध कैसे बनसक्ता है अर्थात् नहीं बनसक्ता।

विशेषार्थ-(अहं) मै (कटस्य) बांसके पत्तोंसे जकादिके सम्बन्धसे परिणमनेवाले पदार्थ चटाईका (कर्त्ता) बनानेवाला हूं (इति) इस कार्यमें (द्वयोः द्वयोः) कथंचित् भिन्न २ दो पदार्थोंका (सम्बन्धः) मेल (स्यात्) होता है। परंतु (यदा) जब आत्माको परमात्माके साथ एकीकरण कालमें(आत्मा एव) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही (ध्यानं) जिससे ध्याया जाय वह ध्यान हो अथवा ध्यान करनेवाला हो जैसा कि कहा है।-

"ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा"तथा (ध्येयं) ध्यान करने योग्य पदार्थ हो (तदा) उस समयमें (कीदृशः संबंध.) किस तरहका संयोग आदि सम्बन्ध द्रव्यकर्मके साथ आत्माका हो सका है? अर्थात नहीं हो सक्ता है इसीसे यह बात निश्चयसे कही गई है कि आत्मध्यानसे कर्मोंकी शीघ्र निर्जरा हो जाती है।

भावार्थ—यहां आचार्य दिखलाते हैं कि आत्माके ध्यान करनेमें यद्यपि शब्दोंसे कहनेमें द्वैत झलकता है परन्तु वहां द्वैत भाव नहीं है-आप ही तो ध्यान करनेवाला है, आप ही ध्यान करनेका कारण है व आप ही ध्येय है अर्थात् कर्ताकरण कर्म

तीनों एक ही हैं–जहां ऐसी एकाग्रता है वहां इस तरहका संयोग सम्बन्ध नहीं है. जैसा कि चटाई और चटाईके बनानेवालेका–चटाईका निर्माणकर्ता, चटाईसे बिलकुल भिन्न सत्ताका रखनेवाला पदार्थ है। जैसे ये दोनो भिन्न पदार्थ है वैसे आत्मध्यानमें ध्यानको बनानेवाला, ध्यान तथा ध्येय दो भिन्न भिन्न पदार्थ नहीं हैं–इस लिये यहां पर तादात्म्य सम्बन्ध है–जब इस तरहकी एकाग्रता स्वरूपमें हो जाती है तब ही रागद्वेषका पता नहीं चलता और यथार्थ सहज वीतरागता छा जाती है। इस वीतरागताके प्रतापसे निश्चयसे नवीन कर्मोका संवर होता है और पूर्वबद्ध कर्मोकी निर्जरा होती है। जहां पूर्ण एकाग्रता हो जाती है वहां कर्मोका सम्बन्ध कैसे बना रह सक्ता है ? अर्थात् नहीं रह सक्ता है। बस आत्मा इसी आत्मध्यानके बलसे सर्व कर्मोसे मुक्त हो जाता है। यथार्थ आत्मध्यानके होते हुए यह भी विकल्प नहीं रहता है कि मैं ध्याता हूं और यह ध्येय है–मैं हूं व नहीं यह भी विकल्प विदा हो जाता है। आप आपमें गुप्त हो जाता है–वहां सब विचार बंद हो जाते हैं–मन वचन कायकी क्रियाए ही नहीं रहतीं–इसे ही उत्कृष्ट निश्चय ध्यान कहते हैं जिसका स्वरूप श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें ऐसा कहा है–

मा चिट्ठह मा जंपह. मा चिंतह जेण होई थिरो।
अप्पा अप्प म्मिरओ इणमेव परं हवे ज्ञाणं ॥५६॥

भाव यह है कि मत कुछ कायकी चेष्टा करो, मत बोलो व मत कुछ चितवन करो जिससे निश्चल होकर आत्मा आत्मामें ही हो जाय सो ही उत्कृष्ट ध्यान है।

श्री समयसार कलशमें कहते हैं–

एक ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्।
स्वादंद्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्॥
आत्मात्मानुभवानुभाव विवशोभ्रस्यद्विशेषोदयं।
सामान्यं किलयन्किलैषसकलं ज्ञानं नयत्येकतां॥८॥

भाव यह है कि एक ज्ञाता रूप भावसे परिपूर्ण महास्वादको लेता हुआ ऐसा कि द्वन्द्वमयी राग द्वेषरूप भावके करनेके लिये असमर्थ तथा अपने वस्तु स्वभावको अनुभव करता हुआ आत्मा आत्मानुभवके प्रभावके वशीभूत हो विशेष कल्पनाओंको मिटाता हुआ तथा सामान्य स्वभावका अभ्यास करता हुआ सर्व ज्ञानको एकताको प्राप्त कर देता है।

तात्पर्य यही है कि आत्म ध्यानमें किसी पर वस्तुका सम्बंध नहीं रहता इसी एकाग्रताके प्रभावसे द्रव्य कर्मोंकी निर्जरा होती है व नवीन कर्मोंका संवर होता है—

दोहाः–कटका मैं कर्तार हू–दो भिन्न वस्तु सम्बन्ध।
आप हि ध्याता ध्येय जहँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध॥२५॥

उत्थानिका–अब शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! यदि आत्मा और द्रव्य कर्मका वियोग आत्म ध्यानसे किया जाता है तब किस प्रकार इनका बंध अर्थात् परस्पर प्रदेशोंका प्रवेश है लक्षण जिसका ऐसा संयोग होता है क्योंकि बंध पूर्वक ही वियोग हो सक्ता है तथा किस तरह बंध विरोधी मोक्ष जो सर्व कर्मसे वियोग लक्षणको रखनेवाला है सो इस जीवके होता है क्योंकि निरन्तर सुखका कारण समझकर ही उसे योगी लोग चाहते हैं। तब गुरु उसका समाधान करते हैं–

श्लोक—बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२६॥

सामान्यार्थ—जो ममता सहित जीव है वह तो कर्मोंसे बंधता है तथा जो ममता रहित है वह कर्मोंसे छुटता है यह क्रम है इसलिये सर्व प्रयत्न करके ममता रहित भावका विशेष चिन्तवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—(समम.) मेरा यह है अथवा मैं इस रूप हूं इस तरह पर वस्तुमें मिथ्या अध्यवसायके आधीन हो जानेसे अहंकार ममकार सहित (जीव.) जीव (बध्यते) कर्मवर्गणाओंसे बन्ध जाता है जैसा कि समयसारकलशमें कहा है—

"न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा।
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्॥"
यदैक्यमुपयोगभूसमुपरो अतिरागादिभिः।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥२॥

भाव यह है कि न तो कर्मवर्गणाओंसे भरा हुआ जगत बंधका कारण है न चलनस्वरूप कर्म कारण है न अनेक इन्द्रियां आदि करण कारण है न सचेतन अचेतनका वंध कारण है किन्तु जो रागादि भावोंके साथ उपयोगवान आत्माकी एकता हो जाती है वही केवल जीवोंको बन्धकी कारण होती है।

तैसे ही वही जीव (निर्मम.) ममकार अहंकार छोड़कर जब निर्ममत्व हो जाता है तब (मुच्यते) उन्हीं कर्मोंसे छूट जाता है। (क्रमात्) यथाक्रमसे यह वात होती है अर्थात् बंधपूर्व मोक्ष होता है। निर्ममत्व भावके सम्बन्धमें कहा भी है—

अकिंचनोहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥

हे भव्य ! तू ऐसा अनुभव कर कि मैं अकिंचन हूं तथा इस जगतमें मेरे स्वरूप सिवाय अन्य कोई परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है तो इस अनुभवसे तु तीनलोकका अधिपति परमात्मा हो जावेगा। परमात्माके पद पानेका यह रहस्य जो योगियोंके ही गम्य है तुझको कहा गया है।

और भी कहा है:—

" रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुंचति।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥ "

भाव यह है कि रागी जीव कर्मोंको बांधता है जब कि वीतरागी कर्मोंको नाश करता है ऐसा संक्षेपसे बन्ध और मोक्षका स्वरूप है सो ही जिनेन्द्रका उपदेश है। (तस्मात्)

जब यह बात है तब (सर्व प्रयत्नेन) सर्व उद्योग करके अर्थात् व्रतादिमें सावधान रहकर व मन वचन कायको रोककर (निर्ममत्त्व) ममता रहित निज आत्मस्वरूपको (विचिन्तयेत्) विशेष चिन्तवन करे अर्थात मुमुक्षु जीवको नीचे लिखे प्रमाण भाव श्रुतज्ञानकी भावनाके द्वारा भावना करनी चाहिये।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्वतः।
नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन ॥

भाव यह है कि मुझसे शरीर आदिक पदार्थ भिन्न हीहैं तथा मैं उनसे भिन्न हूं यही बात तत्त्वदृष्टिसे यथार्थ है तथा न मैं

उनका कोई भी हूं और न ये मेरे कोई भी हैं—इस तरह विचारते रहना चाहिये। आत्मानुशासनमें और भी कहा है—

निर्वृत्तिं भावयेद्यावान्निवर्त्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययं ॥ २३६॥

भाव यह है कि जबतक मोक्षकी प्राप्ति न हो तबतक वीतरागताकी भावना करे। जहां रागद्वेषमें बर्तन करना व उनसे छूट कर वीतराग होना यह कल्पना नहीं है वही अविनाशी परमपद है

भावार्थ—यहां आचार्यने बन्ध और मोक्षका कारण बहुत संक्षेपसे कहा है कि जो जीव मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्मा है, वही संसारमें कर्मके निमित्त होनेवाली अवस्थाओंको अर्थात् रागद्वेषादि परनिमित्तसे होनेवाले भावोंको तथा धनधान्यादि स्त्रीपुत्रादिकोंको व इस शरीरको अपना मानता है और इसी लिये इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्ट वस्तुमें द्वेष करता है—इस राग द्वेष मोहरूप मिथ्या श्रद्धानके आधीन होता हुआ निरंतर कर्मोंका विशेष बंध करता है और उस बंधके फलसे संसारमें भ्रमण करता रहता है—इस सम्बन्धमें तत्त्वानुशासनमें श्री नागसेन मुनिने कहा है:—

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥१४॥
ये कर्मकृताभावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥१५॥
मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते ॥१६॥

ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नो कषायाश्च तन्मयाः ।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥१७॥
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगतिदुर्गती ।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥१८॥
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥१९॥

भावार्थ-जो सदा अपनेसे भिन्न हैं ऐसे कर्मोंके उदयसे प्राप्त शरीरादि पर पदार्थोंमें यह अभिप्राय किये मेरे हैं सो ममकार है जैसे यह देह मेरी है। जो कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले औपाधिक भाव जो शुद्ध निश्चय नयसे अपने आत्मासे भिन्न हैं उनमें यह बुद्धि कि इन्हीं रूप मै हूं सो अहकार है जैसे कि मैं राजा हू। मिथ्या ज्ञान सहित मोहसे ममकार और अहकारका जन्म होता है तथा इन्हीं दोनोंसे ही जीवके रागद्वेष होते हैं-इन्हो रागद्वेषोंसे ही कषायें और कषायमें तन्मयरूप नो कषाय होते हैं। उनसे मन वचन काय काम करते हैं-जिससे हिंसा, झूठ चोरी, कुशील आदि पाप व दया, सत्य, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्यादि पुण्य होते हैं-उनसे कर्मोंका बंध होता है-कर्मबन्धसे दुर्गति या सुगति होती है-वहां शरीर प्राप्त होते हैं और उनहीके साथ इंद्रियां उत्पन्न होती हैं. जिन इंद्रियोंसे फिर पदार्थोंको ग्रहण करता हुआ मोही हो जाता है और रागद्वेष करता है जिससे फिर कर्मोंका बन्ध होता है इस तरह मोहकी सेनाके मध्य प्राप्त हुआ जीव संसारमें भ्रमण किया करता है।

संसारमें परीवर्तन करानेवाला मूल मिथ्या श्रद्धान मिथ्या-ज्ञान और मिथ्या चरित्र हैं-इनहीसे ममत्व होता है जो मूल बवका कारण है। सम्यग्दृष्टी जीवके मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र नहीं होता है-सम्यक्तीका परिणाम बिलकुल परद्रव्य, पर-गुण व परके निमित्तसे होनेवाले अपने भावोंसे ममता रहित होता है। वह यही श्रद्धान रखता है कि मैं केवल शुद्ध चैतन्य मात्र वस्तु हू-सिद्ध सम शुद्ध निर्विकार हूं-मेरा सम्बन्ध मोहसे व ज्ञेय पदार्थोंसे नही है-मै अपने गुणोंमें ही तन्मय हू-शुद्ध निश्चय नय व द्रव्यार्थिक नयसे मैं ऐसा हू-श्री कुंदकुंद महाराजने भी, समयसारजीमें यही कहा है कि जो शुद्ध नयको आश्रयमें लेता है वही सम्यग्दृष्टी है -

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमास्सदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥१३॥

भाव यह है-कि व्यवहार नय असत्यार्थ है जबकि शुद्ध निश्चय नय सत्यार्थ है-जो कोई इस भूतार्थ शुद्ध निश्चय नयका आश्रय करता है वही जीव सम्यग्दृष्टी होता है।

और भी समयसारमें कहा है -

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झभावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥ २०७ ॥
एवं सम्माइट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं च मुअदि तच्च वियाणंतो ॥२०९॥
उदय विवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहि ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२१०॥

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पा णयं तु सव्वागमधरोवि ॥२११॥
अप्पाण मयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मादिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२१२॥

भाव यह है कि पुद्गल कर्मरूप द्रव्य क्रोध है इसीका फल रूप उदय सोही भाव क्रोध है—यह मेरा भाव नहीं है—मैं तो निश्चयसे एक ज्ञातादृष्टा भावरूप हूं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्मतत्त्वको अनुभवता हुआ आत्माको ज्ञातादृष्टा स्वभावमई जानता है और कर्मोंके उदयको कर्मका फल जानकर छोड़ देता है। नाना प्रकार जो कर्मोंके उदयके भेद हैं जिनका कि वर्णन श्री जिनेन्द्र भगवानने किया है वे सर्व भेद मेरे स्वभाव रूप नहीं है क्योंकि मैं एक ज्ञातादृष्टा स्वभावका धारनेवाला हूं। रागद्वेषादिकोंका परमाणुमात्र भी जिसके चित्तमें मौजूद है सो सर्व आगमका जाननेवाला होने पर भी आत्माको नहीं जानता है। जो कोई आत्माको नहीं जानता है तथा अनात्माको नहीं जानता है वह जीव अजीव दोनोंको नहीं जानता हुआ कैसे सम्यग्दृष्टी हो सक्ता है॥ १॥ सम्यग्दृष्टी जीवको आत्मा द्रव्यकी यथार्थ पहचान हो जाती है जिससे उसको स्वात्माके अनुभवका लाभ हो जाता है और वह इंद्रिय सुखोंसे विलक्षण अतीन्द्रिय आनन्दको प्राप्त कर लेता है तब उसकी बुद्धिमें इन्द्रियसुखोंसे वैराग्य भाव हो जाता है इसीसे उसका ममत्व किसी पर पदार्थमें नहीं रहता है—यद्यपि चौथे पाचवे गुणस्थानमें गृहीधर्ममें रहते हुए कषायोंके उदयसे आरंभ व न्याय पूर्वक इंद्रिय भोगोंमें वर्तन

करता है तथापि उनमें उपादेय बुद्धि अर्थात् ये कार्य करने योग्य हैं ऐसी बुद्धि नहीं रखता है । निरतर भावना भाता है कि कब इस योग्य हो जाऊं जो अपने ही आत्मारूपी गढमें बैठकर उसीका ही निरंतर दर्शन किया करू ।

पचाध्यायीमें भी ऐसा कहा है.—

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥३७१॥

इस प्रकार तत्त्वको जाननेवाला सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्माको देखता हुआ इन्द्रिय जनित सुखमें व ज्ञानमें रागद्वेष नहीं करता है ।

इसी कारण सम्यग्दर्शन हो जानेसे ही वह ममता रहित कहलाता है । उसके बन्ध तो बहुत कम होता है और निर्जरा अधिक होती है । जिससे तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टी ममता सहित होनेसे बंधता जबकि सम्यग्दृष्टी ममताके त्याग देनेसे मोक्षकी तरफ बढता जाता है । और नियमसे एक दिन मुक्त हो जायगा। इस लिये आचार्य उपदेश करते है कि जिसतरह बने खूब उद्योग करके ममता रहित होनेका उपाय करना चाहिये अर्थात् शास्त्रोंके द्वारा भाव श्रुत ज्ञानको प्राप्तकर उसके सहारेसे आत्मस्वरूपकी भावना करना चाहिये ।

दोहा—मोही बाधन कर्मको, निर्मोही छुट जाय ।
याते गाढ प्रयत्नसे, निर्ममता उपजाय ॥२६॥

उत्थानिका—आगे शिष्यने प्रश्न किया कि निर्ममताके चिन्तवनका क्या उपाय है इसका उत्तर गुरु चार श्लोकोंमें देते हैं—

श्लोक–एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

सामान्यार्थ–मैं एक सर्वसे भिन्न हू, ममत्व रहित हू, शुद्ध हूं, ज्ञानी हूं, योगीन्द्रोंके द्वारा जानने योग्य हूं, सर्व ही परके सयोगसे होनेवाले भाव सर्व तरहसे मेरे स्वभावसे बाह्य है।

विशेषार्थ–(अहं) मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा (एकः) द्रव्यार्थिक नयसे एक हू–यद्यपि अनंतकालसे अनंत शरीर धारण किये है तो भी उन सर्व पर्यायोंमें मै एक रूप ही चला आया हूं, मै ज्योका त्योंही हूं, न तो मेरा गुण या स्वभाव मुझसे निकल गया और न कोई परगुण या स्वभाव मेरेमें आगया, (निर्ममः) मेरा यह परद्रव्य है, मैं इस परद्रव्यका हू, इस मिथ्या अभिप्रायसे शून्य हूं, (शुद्ध) शुद्ध निश्चय नयसे द्रव्यकर्म और भावकर्मसे मुक्त पवित्र हू (ज्ञानी) आत्मा और परको प्रकाश करनेवाला ज्ञानी हू, (योगीन्द्रगोचर) योगीन्द्रोंके द्वारा इस तरह अनुभवने योग्य हूं कि केवली भगवान तो शुद्धोपयोग मात्र मयी होनेसे आत्माका अनुभव करते हैं और श्रुत केवली (तथा सम्यग्दृष्टी) मैं अपने ही द्वारा अनुभवने योग्य हूं इस स्वात्मानुभूति मात्रपनेसे अनुभव करते हैं। (सर्वेऽपि) सर्व ही (संयोगजा भावा) द्रव्यकर्मोंके सम्बन्धसे होनेवाले मेरे साथ सम्बन्धको प्राप्त देह आदिक पदार्थ (मत्त) मेरे स्वरूपसे (सर्वथा) सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावापेक्षासे (बाह्याः) भिन्न हैं।

भावार्थ–यहा पर आचार्यने शुद्ध निश्चय नयको प्रधान करके अपने आत्माके स्वरूपके विचारनेका प्रकार बताया है।

जिसमें समझाया है कि मैं आत्मा हूं और यह मेरी आत्मा अपनी सत्ता सदासे भिन्न रखती है और सदा ही भिन्न रक्खेगी–इसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इसीके साथ है–यह अन्य सर्व जीवादि द्रव्योंसे भिन्न है–इसकी सत्ता इसीमें है तथा इसी लिये इसका मोह अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है। इसका स्वभाव सर्व मलोंसे रहित है तो भी यह आत्मा वीतरागतासे सर्वको व अपनेको देखने जाननेवाला है और जो कोई सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ या मुनि मन वचन कायकी गुप्ति रखते हुए स्वात्मानुभव करते हैं उनके अनुभवमें आता है तथा केवली भगवान तो उसे साक्षात् ही देखते हैं। जब ऐसा मेरा स्वभाव है तब कर्मोंके अनादिसे संयोगकी शृंखला चली आनेसे जो उनके उदयसे रागादि होते व धन धान्य देह आदि परिग्रह होतीं वे सर्वही मेरे स्वभावसे जुदी हैं। इस तरहकी भावना करनी चाहिये।

जैसा कि श्री समयसारजीमें श्री कुंदकुंद महाराजने कहा है–

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२५॥
आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होहिदि पुणोवि मज्झं अहमेदं चावि होस्सामि ॥२६॥
एवंतु असंभूदं आदावियप्पं करोदि सम्मूढो।
भूदत्थं जाणंतो णकरोदि दु तं असम्मूढो ॥२७॥

भाव यह है कि आत्मासे जो स्त्री पुत्रादि सचित्त या रागद्वेषादि सचित्त या सिद्ध परमेष्ठी सचित्त धन धान्यादि अचित्त या द्रव्य कर्म अचित्त या धर्मादि पांच द्रव्य अचित्त व स्त्रीपुत्रादि सहित घर

ग्रामादि मिश्र या द्रव्यकर्म भावकर्म सहित संसारी जीव मिश्र या गुणस्थान मार्गणास्थान जीवस्थान आदि मिश्र पदार्थ है उनमें अज्ञानी यह विकल्प करता है कि मैं इन रूप हूं या ये मेरे रूप हैं। मैं इनका ही हूं या यह मेरे ही है। ये वस्तुएं पहले मेरी थी मैं पहले इन रूप ही था। ये वस्तुए मेरी ही हो जांयगीं या मैं इन रूप ही हो जाऊंगा, इस प्रकार तीन काल सम्बन्धी अनेक परिणाम अज्ञानी जीव अपने किया करता है। परंतु ज्ञानी सम्यग्दृष्टी सत्यार्थ वस्तुको जानता हुआ इन मिथ्या विकल्पोंको नहीं करता है।

ज्ञानी जीव निज आत्माको आत्माहीके द्वारा मन वचन काय रोक करके ध्याता है अर्थात् उसके स्वभावको जैसा वह शुद्ध द्रव्य दृष्टिसे है वैसा ध्यानमें लेकर ध्याता है तब अपनेसे भिन्न सर्व परभावोंसे विरागता प्राप्त कर लेता है।

दोहा—मैं इक निर्मम शुद्ध हूं, ज्ञानी योगी गम्य
कर्मोदयसे भाव सब, मोते पूर्ण अगम्य ॥२७॥

उत्थानिका—देह आदिकोंके साथमें रहनेसे प्राणियोंको क्या फल होता है इस बातको विचार कर भावनेवाला स्वय ही इस तरह समाधान करेः—

श्लोक—दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः॥२८॥

सामान्यार्थ—इस जगतमें संसारी जीवोंको देह आदि परके संयोगसे दुःखसमूह भोगने पड़ते हैं इसलिये मैं इन सर्व सबंधको मन वचन कायके कर्मोंके साथ साथ छोड़े देता हूं।

विशेषार्थ-(इह) इस जगतमें (देहिनाम्) देहधारी प्राणियोंको (संयोगात्) देह स्त्री पुत्रादि व रागद्वेषादिके सम्बन्ध से (दु ख संदोहभागित्वं) दुःखोंके समूहोंका भागी होना पड़ता है। (तत) इसी कारणसे (एव सर्वं) इस सर्वे सम्बन्धको (मनोवाक्कायकर्मभि) मनो वर्गणा, भाषा वर्गणा तथा शरीरके आलम्बनसे आत्माके प्रदेशोंके हिलने रूप व्यापारोंके साथ (त्यजामि) त्याग करता हूं। अभिप्राय यह है कि मन वचन कायके द्वारा हिलते हुए आत्माके प्रदेशोंको अपने अपने , निर्मल भावके द्वारा रोकता हूं। मन वचन कायके भेद ज्ञानके अभ्याससे आत्मिक सुख व मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा इनहींके साथ एकताके अभ्याससे दु खरूप फल व संसारके भ्रमणकी प्राप्ति होती है। श्री समाधिशतकमें कहा भी है.-

स्वबुद्ध्या यावद् गृह्णीयात्कायवाक् चेतसां त्रय।
ससारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

भाव यह है कि जब तक यह प्राणी मन वचन काय तीनोंको आत्म बुद्धिसे ग्रहण करता है तबतक इसके ससार है और इनहीके भेदके अभ्यास होनेपर मोक्ष है।

भावार्थ-यहापर यह अभिप्राय है कि आत्माकी भावना करने वालेको ऐसा विचार करना चाहिये कि जब तक इस शरीरके साथ इस आत्माका संयोग है तबतक अनेक मानसिक व शारीरिक दुःख इस संसारमें इस जीवको प्राप्त होते हैं-शरीरके ही निमित्तसे इन्द्रिया होती है जिनके निमित्तसे इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें यह जीव रागद्वेष करता है-जिनसे कर्म बाधकर दुःखों-

को उठाता है-मन, वचन, कायकी क्रिया ही से योगोंका परि-णमन होता है जिससे कर्मोंका आश्रव होता है और कषायोंके निमितसे उनका बंध होजाता है-उन कर्मोंसे बना हुआ कार्माण शरीर इस जीवके साथ जब तक है तबतक उनके उदयसे आत्माको स्वाधीनता नहीं प्राप्त होती है। उन कर्मोंके ही कारण रागद्वेषादि विभाव भी होते हैं और शरीरादि पर पदार्थोंका भी शुभ या अशुभ सम्बन्ध होता है-मन, वचन, कायका बनना और उनकी क्रिया होना भी कर्मोंके द्वारा ही है-कर्म बंध रहित परमात्मामें न मन वचन काय होते हैं और न उनकी कोई क्रिया ही होती है क्योंकि ये सब व्यवस्था कर्मोंके संयोगसे है-इस लिये कर्मोंका संयोग ही दुःखोंका कारण है-जैसा कि समयसारमें कहा है:—

अट्ठविहं पिय कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि, दुक्खंति विपच्चमाणस्स ॥५०॥

भाव यह है कि आठों ही प्रकारके कर्म्म सर्व पुद्गल मई है ऐसा जिनेंद्र भगवान कहते है तथा उन उदय प्राप्त कर्मोंका फल भी दु:खरूप ही-आकुलतारूप ही कहा गया है।

इस कारण कर्मोंका संयोग ही दु:ख मूल है अतएव भावना करनेवाला विचारता है कि मै इस कार्माणदेह, तैजसदेह, औदारिक देह व उनके सम्बन्धी स्त्री पुत्रादिकोंका मोह तो छोडता ही हू किन्तु उन मन वचन कायकी क्रियाओंका भी मोह त्यागता हूं जिनके निमित्तसे कार्माणदेह बनता है। और सब तरह निश्चिन्त होकर अपने आत्मस्वरूपकी ही भावना करता हू क्योंकि कर्मोंका

संयोग भी आत्मभावनासे ही मिटता है।

जैसा कि समयसार कलशमें कहा है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या।
भवति नियतमेषां शुद्ध तत्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्य द्रव्य दूरे स्थितानां॥
भवति सति च तस्मिन्न क्षयः कर्ममोक्ष॥४५॥

भावना यह है कि जो भेद विज्ञानकी शक्तिके द्वारा अपने आत्माकी महिमामें रत है उनहीको शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति नियमसे होती है तथा उस शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति होते हुए जो सर्व अन्य द्रव्योंसे दूर रहनेवाले हैं उनको अवश्य कर्मोसे मोक्ष हो जाती है।

श्री अमितगति आचार्यने भी कहा है—

संयोगतो दुःखमनेकभेदं यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्॥२८

भाव यह है कि क्योंकि शरीरादिके संयोगसे यह प्राणी अनेक प्रकारके दुःखोंको इस संसार बनमें भोगता है इस लिये अपने आत्माकी मुक्ति चाहनेवालेको उचित है कि उनका संयोग मन वचन कायसे दूर करे अर्थात् उनसे विलकुल मोह त्याग दे।

इस तरह भावना करनेवाला अपने आत्म स्वरूपसे कर्म्म आदि पर वस्तुको आत्माकी स्वाधीनताका घातक तथा विलकुल भिन्न जानकर उन सर्व परसे राग हटाले—मन वचन कायोंसे भी भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपको अपने आपमें जमा ले।

दोहा—प्राणी जा सयोग ते, दु खसमूह लहात।
तातें मन बचन काय युत, ह्वै ना सर्व तजात॥२८॥

उत्थानिका–और भी भावना करनेवाला ऐसा विचार करता है कि मूर्तिक पुद्गलमई कार्माण देह आदिके साथ जीवका सम्बन्ध है जैसा कि आगमसे भी सुना जाता है तथा उनके संयोगकी अपेक्षासे ही इस संसारी जीवको मरण व रोग आदिक कष्ट होते हैं तो मैं किस प्रकारकी भावनासे इन रोग व मरण आदिको दूर करूं अथवा उनके कष्टको जीतूं। तब इस शंकाका आप ही इस तरह समाधान करता है–

श्लोक–न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

सामान्यार्थ–निश्चयसे न मेरे आत्माको मरण है तब भय किससे करना और न मेरे आत्माको रोग है तब दुःख किससे होगा। तथा न मैं बालक हूं न वृद्ध हूं और न युवान हूं, ये सब अवस्थाएं इस शरीरमें हैं जो मुझसे भिन्न पुद्गल है।

विशेषार्थ–(मे) निश्चयसे शुद्ध ज्ञानानंद स्वरूपका धारी जो मैं आत्मा हूं उसके (मृत्युः) इन्द्रिय बल आयु उश्वास ऐसे द्रव्य प्राणोंका त्याग रूप मरण (न) नहीं है तथा चेतना लक्षण, भाव प्राणोंका जो मेरे अपने हैं कभी भी त्याग होता नहीं इस लिये जब मेरेको मरण नहीं है तब (कुतो) किस मरणके कारण कृष्ण सर्प आदिसे (भीतिः) भय मुझे होगा। अर्थात् मैं किसीसे भी नहीं डरता हूं परम निर्भय हूं तथा (मे) मेरेको (व्याधिः न) वात पित्त कफ आदि दोषोंकी विषमता रूप रोग नहीं है क्योंकि वातादिका सम्बन्ध मूर्तिकके साथ हो सक्ता है। मैं तो अमूर्तिक हूं। जब ऐसा है तब (कुत) किस ज्वर आदि विकारसे

(व्यथा) कष्ट मुझको होगा अर्थात् जब मेरे आत्मामें ज्वरादि रोग ही नहीं तब उनका कष्ट भी नहीं होगा तथा (अहं) मै ज्ञानस्वरूप आत्मा निश्चयसे (बाल न) न बालक हूं, (न अहं वृद्ध.) न मै वृद्ध हूं, (न युवा) न मै युवान हू। जब ये बालादि अवस्थाएं मुझमें नहीं तब क्यों इन अवस्थाओंके दुखोंसे मैं पीड़ित हो सक्ता हू ? अर्थात् कभी पीडित नहीं हो सक्ता हू। तब ये मृत्यु, रोग व बालादि अवस्थाएं कहां होती हैं ? तो उसका उत्तर है कि (एतानि) ये सब मरण रोग बालक युवा वृद्धादि अवस्थाएं (पुद्गले) मूर्तिक शरीरमें ही होती है। मैं तो अमूर्तीक हूं इस लिये मूर्तिक स्वभावको रखनेवाली अवस्थाओंका मेरेमें होना बिलकुल असभव है।

भावार्थ—भावना करनेवाला विचार करता है कि जब मैं शुद्ध निश्चय नयको प्रधानकर अपने आत्माके स्वरूप पर ध्यान देता हूं तब मुझको मालूम होता है कि न मेरा मरण है न जन्म है। मै सदा अखड असंख्यात प्रदेशी रहता हूं। मेरा एक प्रदेश भी कभी कम व अधिक नहीं होता है। जब मेरा मरण ही नहीं होता है तब मुझको किससे भय करना चाहिये ? अर्थात् तब भय करना बिलकुल अज्ञानता है। ज्ञानी पुरष सदा निर्भय रहता है—वह क्या विचार करता है उसका वर्णन इस भांति आचार्य अमृतचंद्रजीने समयसार कलशमें किया है:—

प्राणोच्छेदमुदाहरान्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो।
निःशङ्कः सततं स्वयं ससहजं ज्ञानं सदा विन्दाति॥२७॥

भाव यह है कि प्राणोंके नाशका नाम मरण है--सो निश्चयसे आत्माके प्राणज्ञान है सो सदा अविनाशी है। उनका कभी भी नाश नहीं हो सक्ता इस लिये उसका कभी मरण नहीं है तब फिर ज्ञानीको भय किससे हो? वह सदा ही निर्भय रहता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

व्यवहारमें जो यह कहा जाता है कि अमुक मर गया वह यथार्थ वचन नहीं है। शरीरके वियोगको आत्माका मरण कहा जाता है। वास्तवमें अनादिसे सम्बन्ध रखनेवाले तैजस कार्माण शरीर सहित जीवका स्थूल औदारिक या वैक्रियिक शरीरसे छूट जाना सो मरण है। इस तरह शरीरके छूटते ही अधिकसे अधिक तीन समयतक ही यह जीव विग्रह गतिमें रहता है फिर किसी न किसी स्थूल शरीरको धारण कर लेता है। जैसे एक मकान छोड़कर दूसरा मकान बदल लेना वैसे एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारना होता है। इसमें अज्ञानी मिथ्यादृष्टि पापीको तो भय अवश्य हो सक्ता है क्योंकि उसको जो दूसरा मकान शरीररूपी प्राप्त होगा वह उसके लिये वर्तमान शरीरसे निकृष्ट होता है। परन्तु ज्ञानीको इस बातका भय नहीं होता है। उसे तो उसका पुण्य कर्म नवीन उत्तम देह हीमें प्राप्त करेगा। स्वयं श्री पूज्यपाद महाराजने समाधिशतकमें इस बातको इस तरह स्पष्ट किया है:--

देहात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ॥७७॥

भाव यह है कि जिसकी शरीर आदि पर पदार्थोंमें दृढ आत्म बुद्धि हो रही है वह शरीरको छूटते हुए अपना नाश देखता है और मित्र स्त्री पुत्रादिसे वियोगको होते जानकर मरणसे बहुत ही भय करता है परन्तु जिसकी अपनी आत्मामें ही आत्म बुद्धि है वह अपनी आत्माको दूसरे शरीरको धारण करनेके सम्बन्धमें निर्भय होकर एक वस्त्रको त्याग, दूसरा वस्त्र ग्रहण करना ही मानता है। जैसे एक वस्त्रको छोड दूसरा वस्त्र बदलनेमें कोई भय व दुःख नहीं होता है उसी तरह ज्ञानीको शरीरसे छूटकर दूसरा शरीर कर्मबंध लेनेके कारण धारनेमें कोई भय या दुःख नहीं होता है। इसीसे ज्ञानी सदा निर्भय रहता है।

ज्ञानी जीव जैसे मरणसे नहीं डरता है वैसे रोगोंके आगमनसे भी नहीं डरता है। उसको इस बातका निश्चय है कि आत्मा अमूर्तिक अखंड अविनाशी है इससे उसमें किसी प्रकारका ज्वरादि रोग हो ही नहीं सक्ता-सर्व रोग उस शरीरमें ही होते हैं जो कि आत्मासे भिन्न हैं तथा जो अवश्य नष्ट हो जानेवाला है। जैसा कि श्री अमृतचंद्रजीने कहा है:-

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते ।
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदा नाकुलैः
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२४॥

भाव यह है कि ज्ञानी जीव विचारता है कि यही एक

मेरे वेदना है जो एक निश्चल ज्ञान सदा अनुकुलता रहित जीवोंके द्वारा भेद रहित स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे स्वय अनुभव किया जाता है इसके सिवाय कोई भी पर पदार्थकी वेदना मेरे नहीं है तब फिर ज्ञानीको भय किससे होगा ? अर्थात् वेदना नाम रोगका भी है तथा अनुभवका भी है। रोग शरीराश्रित होते है—अनुभव आत्माश्रित है। जब मैं शरीरसे भिन्न हूं तब शरीर सम्बन्धी रोग मेरेको कोई नहीं हैं, मैं आत्मा हू तब अवश्य अपने स्वरूपकी वेदना अर्थात् उसके अनुभवका स्वाद भोगता हू इसी लिये ज्ञानी जीव रोगके भयसे रहित होता हुआ अपने ही स्वाभाविक ज्ञानको सदा भोगता है।

रोग शरीरमें वायु पित्त कफ आदि दोषोंका विकार पुद्गल रूप है। मैं पुद्गलत्त्वसे शून्य जीवत्त्व मय हू तब मुझे न कोई रोग सताते हैं और न मेरेको उनसे किसी प्रकारका भय ही हो सक्ता है। इसी तरह ज्ञानी यह भी विचारता है कि बालकपना, युवानपना तथा वृद्धपना शरीरके आश्रित है—शरीर जब निर्बल अपक्व होता उसे बालक कहते, जब बलवान पका होजाता उसे युवा कहते, जब वह फिर निर्बल व जीर्ण होजाता तब उसे वृद्ध कहते हैं—मैं निश्चयसे जीव द्रव्य हूं, पुद्गलादि पाच अजीव द्रव्योंसे भिन्न हू. इससे मेरा आत्मा बालक युवा तथा वृद्ध नहीं है मैं तो ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अखड सदा ही प्रतापशाली अपने अनंत गुणोंका भडार हूँ।

शरीरमें ज्ञानी जीव प्रीति नहीं करते। वे ऐसा विचार कर अपने मनको समझाते हैं जैसा कि कहा है—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि ।
श्चर्माच्छादितमस्त्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ॥
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं ।
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥

भाव यह है कि यह शरीररूपी घर हड्डियोंके समूहसे हुआ है, नशोंके जालसे वेष्टित है, चर्मसे ढका है, रुधिरचा रसे गीला माससे लिप्त है—कर्मरूपी दुष्ट शत्रुओंसे अच्छी तरह सुरक्षित किया गया है। तथा आयुकर्मकी बडी बेडी इसमें लगी हुई है। हे मूरख ! ऐसे कारागारके समान इस शरीरमें तू वृथा प्रीति मत कर। (आत्मानुशासन)

इस तरह भावना करनेवाला निश्चय नयको प्रधानतासे ध्यानमें लेकर जब विचार करता है तब उसको मरण व रोग व बाल युवा वृद्धा अवस्थासे कोई भी राग द्वेष नहीं रहता। जैसे वस्त्रके नष्ट होनेसे कोई भी अपनी देहका नाश मानकर दुःखी नहीं होता इसी तरह शरीरके नष्ट होनेसे पर ज्ञानी आत्माका नाश नहीं मानता जैसा कि समाधिशतकमें कहा है—

नष्टे वस्त्रे यथात्मनं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मान न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

इसका भाव ऊपर आ गया है।

दोहा—मरणरोग मोमे नहीं—तातै सदा निःशंक।
बाल तरुण नहिं वृद्ध हू- ये सब पुद्गल अंक ॥२९॥

आगेकी उत्थानिका—फिर भी भावना करनेवाला ऐसी मनमें शंका करता है कि यदि उक्त रीतिसे भय आदि नहीं होते तो इन देहादि वस्तुको पाकर जन्मसे लेकर इनमें अपने-

पनेका अभ्यास करते हुए यदि भेदज्ञानकी भावनाके बलसे इनको छोड दिया जाय तो फिर चिरकालके अभ्यासके संस्कारसे इनके लिये पश्चात्ताप तो न हो जायगा कि मैंने क्यों इनको छोडा तब उस भावको मैं कैसे दूर करूगा इस शंकाका निषेध वह आप ही इस तरह करता है-

श्लोक-भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा॥३०॥

सामान्यार्थ-मैने मोहनी कर्मके निमित्तसे ही देहादि पुद्गलोंको वारम्वार भोगकर छोडा है, अब मै ज्ञानी होगया हू तब उन झूठन समान पदार्थोंमें मेरी कैसे इच्छा हो सक्ती है।

विशेषार्थः-(मया) मुझ संसारी जीवके द्वारा (मोहात्) मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र मई अज्ञानके बलके आधीन होनेसे (सर्वेऽपि पुद्गला.) सर्व ही पुद्गल जिनको कर्म आदि रूपसे ग्रहण किया था (मुहु) वारवार (भुक्तोज्झिता) भोगे गए और त्यागे गए है (अद्य) अब आज (उच्छिष्टेपु इव) जैसे लोगोंकी एकदफे भोगे हुए भोजन, गंध, माला आदि झूठे पदार्थोंमें फिर भोगनेकी इच्छा नहीं होती वैसे (तेपु) इन सर्व उच्छिष्ट पुद्गल व उनकी सर्व अवस्थाओंमें (मम विज्ञस्य) मुझ तत्व ज्ञानी जीवकी (का स्पृहा) कैसे इच्छा हो सक्ती है ? अर्थात् कभी भी नहीं हो सक्ती है। इस तरह हे वत्स ! ऊपर लिखे ४ श्लोकोंके द्वारा निर्ममत्त्वका चिन्तवन करना चाहिये।

भावार्थ-यह जीव अनादि कालसे कर्मोंके बंधनमें प्रवाहकी अपेक्षा पड़ा हुआ है-अनादिकालसे ही इसके संसारसे

मोह हो रहा है। मिथ्यात्व कर्मके जोरसे इसे कभी भी अपने स्वभावका ज्ञान नहीं भया-यह जिस२ शरीरमें प्राप्त हुआ उसीमें अपनायत करके उसके भोगमें रत हो गया। आयु कर्मके कारण उनको छोडना पड़ा फिर दूसरे शरीरमें प्राप्त होकर वैसी ही अज्ञानता की-कभी भी भेद ज्ञानका लाभ नहीं किया। इस तरह इस अज्ञानी जीवने अनादि कालसे इतने शरीर धारण किये हैं कि कोई पुद्गल ऐसा नहीं रहा जो इसने कभी न कभी ग्रहण न किया हो जिससे तैजस, कार्माण व औदारिक, वैक्रियक, आहारक व भाषा व मन रूपसे परमाणुओंको वारवार ग्रहण करके छोडता गया। जैसे सब पुद्गल वारवार भोगे जानेसे उच्छिष्ट हो गए वैसे इन्द्रियोंके भोग भी वारवार भोगे जानेसे उच्छिष्ट सम होगए, ज्ञानी विचारता है कि जगतमें ऐसा नियम है कि जो भोजन किसीने अपना मुंह लगाकर झूठा कर दिया तो फिर आप व दूसरा उसे नहीं खाता है, जो माला एक दफे पहनली उसे आप व दूसरा कोई नहीं पहनेगा। यदि कदाचित् कोई लाचारीसे उच्छिष्ट पदार्थको फिर भी भोग करे तथापि भोगनेवालेकी वाछा ऐसी झूठनमें नहीं होती है। वह तो शुद्ध भोजन माला आदि जो किसीके भी भोगे हुए न हों उन ही की इच्छा करता है-वह भोगे हुए पदार्थकी इच्छा नहीं करता है। तब जिन शरीर आदि पुद्गलोंको मैंने बराबर भोगकर उन्हें उच्छिष्ट करदिया तब उनमें अब मेरी इच्छा कैसे होसक्ती है? जबतक मैं अज्ञानी बालकके समान था तबतक मैंने झूठे पदार्थोंको भी सच्चा जान व उपादेय मान भोग किया। जैसे अबोर छोटा शिशु सच्चे झूठेका

ज्ञान न रखता हुआ एक दफे खोए हुए पदार्थको फिर भी खाता है—उसके मनमें ग्लानि नहीं आती वैसे मैंने भोगे हुए पदार्थोंका भोग किया और कुछ भी ग्लानि नहीं की। किन्तु जैसे समझदार मनुष्य उच्छिष्ट भोजनकी कभी चाह नहीं करता है वैसे अब जब मैंने तत्त्वज्ञानके बलसे पदार्थोंका सच्चा स्वरूप जानकर पुद्गलादिमें हेय तथा आत्मामें उपादेय बुद्धि की है तब मेरी इच्छा इन उच्छिष्ट पुद्गलोंमें कैसे होसक्ती है अर्थात् कभी नहीं हो सकती है। तत्वज्ञानी इस यथार्थ पदार्थोंके स्वरूपके विचार करनेके बलसे पर पदार्थोंसे ममत्व छुड़ा लेता है और वीतराग भावको अपने मनमें जमा लेता है।

दोहा—सब पुद्गलको मोहसे, भोग भोग कर त्याग ।
मैं ज्ञानी करता नहीं, उन उच्छिष्टमें राग ॥ ३० ॥

उत्थानिका—अब शिष्य प्रश्न करता है कि किस तरह इन पुद्गलोंको यह जीव बराबर ग्रहण करता रहता है—तब गुरु इसका उत्तर कहते हैं—

श्लोक—कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥ ३१ ॥

सामान्यार्थ—कर्म तो अपने कर्मके हितको करता है और जीव अपने जीवके हितको करता है। जगतमें ऐसा कौन है जो अपने २ प्रभावके बलवान होनेपर अपने स्वार्थको न चाहे।

विशेषार्थ—जैसा कि इस गाथामें किसी आचार्यने कहा है कि—

कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ होति बलियाइ ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्व विरुद्धाइ वइराइ ॥

अर्थात् कहीं तो जीव बलवान हो जाता है, कहीं कर्म्म बलवान हो जाते हैं–जीव और कर्मोंका अनादि कालसे विरोधरूप वैर है–इसी तरह (कर्म) पूर्वमें बांधा हुआ कर्म्म अर्थात् बलवान कर्म (कर्महिताबधि) अपने ही कर्मके ही हितको करता है–जीवके औदयिक भावोंको प्रगट करके नवीन नवीन कर्मोंको ग्रहण कराके अपनी संतानको पुष्ट करता है ऐसा भाव है जैसा कि कहा है। श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें–

" जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१॥
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥२॥

भाव यह है कि जीवके किये हुए रागादि परिणामोंके निमित्तको पाकर फिर भी अन्य इस जगतमें भरे हुए कर्माण वर्गणा रूपी पुद्गल अपने आप ही कर्म्मबंधरूप परिणमन कर जाते हैं। वैसे ही जब जीव अपने ही चैतन्यमई रागादि भावोंमें आप ही परिणमन करता है तब उसके लिये भी पूर्वबद्ध, पौद्गलिक कर्मोंका उदय निमित्त पड जाता है। तथा (जीव) कालादि लब्धिसे बलको प्राप्त हुआ आत्मा (जीवहितस्पृह.) अपने ही हितको अर्थात् अनंत सुखके कारण परमोपकारी मोक्षको चाहता है। यहां दृष्टांत कहते हैं (स्वस्वप्रभाव भूयस्त्वे) अपने अपने महात्म्यकी अधिकता होनेपर (को वा) कौन ऐसा है जो (स्वार्थं) अपने उपकार करनेवाले पदार्थको (न वाञ्छति) नहीं चाहता है। अर्थात्

सर्व ही चाहते हैं। इसलिये हे शिष्य! समझ कि कर्मबध जीव ही कर्मोंका सचय करता है।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने बताया है कि जबतक यह अज्ञानी आत्मा कर्मोंके उदयके आधीन होकर वर्तन किया करता है तबतक यह निरंतर कर्मोंका सचय करता है। क्योंकि अज्ञानी आत्माकी चाहना कर्मके प्रपंच जालमें ही रहती है। उसे अपने जीवनकी खबर नहीं होती है। वह पुद्गलके आधीन होता हुआ पर समय रूप बहिरात्मा रहता है इसलिये ससारकी चाहके कारण संसारके कारण कर्मोंको बांधा करता है। प्रयोजन यह है कि कर्म्म अपनी संतानको बढ़ाते रहते हैं। जैसे कोई अज्ञानी मनुष्य मद्यको पीकर दुःख उठाता है तब भी मद्यको जबतक हितकारी समझता है तब तक वह मद्यको बारबार पीता हुआ मद्यकी सतानको बढ़ाता है। रागी मिथ्यादृष्टी जीवकी भी यही दशा है। मोह मद्यको पिये हुए वह निरतर मोहके वशीभूत हो कर्मोंका अधिक सचय करके मोहके कारणीभूत देहादि पदार्थोंको बारबार प्राप्त करता है। अज्ञानी जीवमें मोहकर्मकी बलवत्ता होती है। उसके भीतर जीवका पुरुषार्थ बिलकुल दब रहा है। इसीलिये बलवान् मोह अपने बलको बढाता है। जैसा कहा है-समयसारमे-

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहयं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥ २२॥
जीवे व अजीवे वा सपदि समयह्मि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंध मोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो॥ २३॥

कर्म्म तथा नोकर्म्म शरीरादिमें यह बुद्धि कि इन रूप में हू या मैं हूं सो ही कर्म्म नोकर्म्म हैं– इस प्रकारकी प्रतीति जबतक इस जीवके रहती है तबतक यह जीव अज्ञानी बहिरात्मा रहता है। वर्तमान कालमें यह जीव यदि अजीव शरीरादिके मोहमें लिपटा होता है तो बन्ध होता है और जो अपने जीवके स्वभावमें अनुरक्त होता है तो मोक्ष मार्गमें चलकर मुक्त हो जाता है– ऐसा संक्षेपसे कहा गया है।

मिथ्यादृष्टी जीवमें कर्मोंके उदयका बलवानपना है इससे उसी मोही जीवमें कर्म अपना बल पकड़ते हैं–अर्थात् दीर्घ स्थितिको लिये हुए महान कर्मोंका बंध कराते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टी जीवमें पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है। वह स्वानुभूतिको प्रगट कर लेता है–उसमें आत्मवीर्य कर्मोंके जीतनेका पैदा हो जाता है– उसकी परिणति संसारमार्गसे हटकर स्वाधीन होनेके लिये मोक्ष मार्गकी तरफ झुक जाती है। वह अपने आत्महितका सच्चा प्रेमी होजाता है। इसीसे उसकी आत्मामें कर्मोंका बल घट जाता है–वह ज्ञानी आत्मा ज्ञान वैराग्यके बलसे उदय प्राप्त कर्मोंका भी आदर नहीं करता इसीसे असाताके उदयमें दु खी तथा साताके उदयमें सुखी अपनेको नहीं मानता–वह कर्मोंके उदयमें रजायमान नहीं होता। वह कर्मोंसे बिल्कुल प्रीति छोड देता है इसीसे कर्म भी उसके पास कम आकर बंधते हैं। सम्यग्दृष्टी कर्मोंकी निर्जरा अधिक करता है, बंध बहुत कम करता है इसीसे स्वाधीनताका पात्र हो जाता है। जो जिससे प्रीति करता है वह उसको प्राप्त करता है। जैसा श्री समाधिशतकमें कहा है–

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

भाव यह है कि इस शरीरमें आत्माकी भावना करनी सो अन्य देह प्राप्तिका बीज है जब कि आत्मामें ही आत्माकी भावना करनी सो देह रहित हो जानेका बीज है। मिथ्यादृष्टी कर्मोंका भक्त जब कि सम्यग्दृष्टी आत्माका भक्त हो जाता है इसीसे वह संसार तथा यह मोक्षका मार्गी होता है। गुरु महाराजने शिष्यको समझाया है कि जो संसारिक पदार्थोंमें मोह है अर्थात् कर्मोंके उदयमें तन्मयता है वही बराबर कर्मबन्धका कारण है। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु जीवको संसारमोह त्याग वीतरागी व सम्यग्ज्ञानी होना योग्य है।

यहा दृष्टांत भी यही दिया है कि जिसका जब प्रभाव जम जाता है वह अपने कार्यमें चूकता नहीं है—अपना स्वार्थ साधता ही है। यदि कोई अपना प्रभाव राज्य पर जमा लेता है तो राज्यके द्वारा अपना चिंतित काम साध ही लेता है। यदि कोई दुष्ट सेवक अपने स्वामी पर अपना प्रभाव जमा लेता है तो जिस तरह हो उसके ठगनेमें कोई कसर नहीं रखता है। पुद्गलोंमें भी यही दशा है। यदि चांदी सोना मिला दिया जाय तब यदि सोना अधिक है तो चांदीका और चादी अधिक है तो सोनेका प्रभाव जम जावेगा—इसी तरह जब यह आत्मा पुरुषार्थकी सम्हाल करता है तब कर्मोंके बलको दबा लेता है और जब कर्मोंके उदयके आधीन हो जाता है तब कर्मोंके वशमें होकर अधिक कर्मोंका

संचय करता है। इस कारण जीवको सदा निजहितमें चैतन्य रहना चाहिये।

दोहा—कर्म कर्महितकार है, जीव जीव हितकार।
निज प्रभाव बल देखकर, कोन स्वार्थ करतार॥३१॥

उत्थानिका—ऊपरके श्लोकके अनुसार व्यवस्था बताते हुए आचार्यको और भी शिष्यको उपदेश करते हैं—

श्लोक—परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

सामान्यार्थ—हे अज्ञानी जीव! तू दिखनेवाले इस अपनेसे भिन्न शरीरादि पर वस्तुओंका उपकार कररहा है सो इस परके उपकारको लौकिक जनके समान छोड़कर अपने आत्माके उपकारमें लीन हो।

विशेषार्थ—हे शिष्य! तू (अज्ञ) तत्त्वज्ञानसे शून्य होता हुआ (दृश्यमानस्य) इन दिखनेवाले या इन्द्रियोंसे अनुभवमें आनेवाले (परस्य) अपने आत्माके स्वाभावसे सर्वथा भिन्न ऐसे देह आदि पदार्थोंका (उपकुर्वन्) उपकार कर रहा है सो अब तू (लोकवत्) लौकिक जनकी तरह जैसे कोई आदमी परको परस्वरूप न जानता हुआ—अर्थात उसे अपना सगा भूलसे मानता हुआ उसके साथ भलाई करता रहता है परन्तु जब वह ठीक ठीक बात जान लेता है तब उसके उपकारको छोडकर अपने ही हितमें लग जाता है उस तरह (परोपकृतिम्) पर जो कर्मबंध या शरीरादि जिनके साथ तू अज्ञानवश उपकार कर रहा था उस उपका-

रको (उत्सृज्य) यथार्थ ज्ञानके अभ्यासते त्याग कर (स्वोपकार-परो भव) अपने आत्माके उपकारमें तत्पर हो।

भावार्थ—जैसे कोई मूढ प्राणी भूलसे किसी शत्रुको मित्र मानकर उसके मोहमें पड उसके साथ अनेक प्रकारकी भलाई करता रहता है परन्तु जब उसे यह पता लग जाता है कि यह मित्र वास्तवमें मेरा मित्र नहीं किंतु मेरा शत्रु है तब उसी क्षणसे वह उसके साथ उपकार करना छोड़ देता है और अपनी भलाईमें सावधान हो जाता है इसी तरह आचार्य शिष्यको समझाते है कि अज्ञान अवस्थामें तूने शरीरादि पर पदार्थोंको अपना माना और उनके साथ मोही होकर हरएक शरीरमें रहते हुए रात दिन शरीरकी सेवा की, इन्द्रियोंकी चाकरी बजाई व इन्द्रियोंके पोषनेमें सहकारी स्त्री पुत्रादिके लिये नाना प्रकार पाप करके भी धनादि सचय किये। और अपने आत्माके हितको न समझकर आत्मकल्याणसे विमुख रहा। परन्तु अब तू तत्त्व-ज्ञानको प्राप्त हो और यथार्थ दृष्टिसे विचार कर कि यह शरीरादि पर पदार्थोंका मोह तेरा उपकारी है या अनुपकारी है। यदि अनुपकारी है तो अब तू उस परके उपकारको छोड़कर अपने आत्माका जिसमें सच्चा हित हो वैसा काम कर।

पुद्गलको अपना मानकर भारी धोखा अनादि कालसे इस जीवने खाया है। अपने हितकी तरफ अनेक उपदेश सुनने पर भी ध्यान नहीं दिया। किन्तु जो अपने अहितकारी थे उसहीके मोहमें पड़कर उनके उपकारमें रत होकर अपना अपकार किया।

अब ज्ञान नेत्रसे विचार कर अपनी भूल मेटकर यथार्थ मार्गका अनुसरण करना चाहिये।

दोहा—प्रगट पर देहादिका, मूढ करत उपकार ॥
सुजनवत् या भूलको, तजकर निज उपकार ॥३२॥

उत्थानिका—अब शिष्य प्रश्न करता है कि किस उपायसे आत्मा और परका भेद विशेष करके जाना जाता है तथा जानकरके ज्ञाताको किस फलकी प्राप्ति होगी। इसका समाधान आचार्य करते हैं—

श्लोक—गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरम्॥३३॥

सामान्यार्थ—जो कोई गुरुके उपदेशसे, भावनाके अभ्याससे व स्वानुभवसे आपापरके भेदको जानता है वह महात्मा निरंतर मोक्षके सुखका अनुभव करता है।

विशेषार्थ—(यः) जो कोई भव्य जीव स्वाधीनताका इच्छुक प्रथम (गुरूपदेशात्) धर्माचार्यके अत्यन्त दृढ़ ज्ञानके उत्पन्न करनेवाले वचनोंको सुनकर फिर (अभ्यासात्) उनही वचनोंपर विश्वास करके उनके अनुसार अभ्यासरूप भावनाका परिश्रमकर पश्चात् (संवित्ते) अपने आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप अनुभव करके (स्वपरांतरं) आत्मा और अनात्माके भेदको (जानाति) जानता है—और अपने आत्माको परसे भिन्न अपने स्वादमें लेता है (स) वह परसे भिन्न यथार्थ आत्माका अनुभव करनेवाला मनुष्य (मौक्षसौख्यं) मोक्षके अतीन्द्रिय आनन्दको (निरंतर) बराबर (जानाति) अनुभव

करता है क्योंकि जो कोई कर्मोंसे भिन्न आत्माका अनुभव करेगा उसे आत्मीक सुखका भोग अवश्य प्राप्त होगा।

ऐसा ही तत्त्वानुशासनमें कहा है:-

" तमेवानुभवंश्चायमैकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमतिवाचामगोचरम्। इत्यादि "

भाव यह है कि उस ही आत्माको अनुभव करते हुए परम एकाग्रता प्राप्त होती है तथा साथ ही वचन अगोचर स्वाधीन सुख भी स्वादमें आता है।

भावार्थ–यहां पर आचार्यने आपा परके जाननेका उपाय बतलाया है। किसी भी पदार्थका ज्ञान या तो पूर्व स्मरणसे या वर्तमानमें धर्माचार्य गुरु या शास्त्रके उपदेशसे होता है जिसको अधिगमज ज्ञान व सम्यक्त कहते हैं। इस लिये मुमुक्षु जीवको उचित है कि यथार्थ गुरु और शास्त्रके द्वारा आत्मा और अनात्माका ठीक २ स्वरूप समझे। ठीक समझनेका प्रयोजन यह है कि प्रमाण और नयोंके द्वारा युक्तियोंसे तौलकर उनके भिन्न २ स्वरूपका निर्णय करे। जब निर्णय हो जावे तब निरन्तर इनके भेदको सोचनेका अभ्यास करे जिससे पूर्वका अभेद माननेका संस्कार मिटकर भेद ज्ञानका संस्कार जम जावे। जब चिर अभ्याससे सहजमें भेद ज्ञान होने लगे तब स्वानुभवका उद्योग करके परसे भिन्न आत्माके स्वरूपमें एकताको प्राप्त करे–जिस समय उसको स्वरूपकी एकता प्राप्त होगी उसी समय यह आत्मीक आनंदका अनुभव करेगा। क्योंकि सुख गुण आत्माका स्वभाव है। आत्मस्थ होने पर उसका

भोग अवश्य होगा ही। तथा जिसको एक दफे भी स्वरूपका अनुभव होगया वह निरन्तर मोक्षके सुखको अनुभव कर सकेगा।

दो मिले हुए पदार्थोंके भेद ज्ञान प्राप्त करनेका जो उपाय यहां बताया है वही उपाय लौकिक कार्योंमें भी किया जाता है। एक जौहरी अपने शिष्यको पहले उपदेश द्वारा सच्चे झूठे रत्नकी पहचान तथा हीरा पन्ना माणक मोती आदिकी भिन्न२पहचान समझता है फिर वह शिष्य बहुत कालतक बरावर इन रत्नोंकी परख किया करता है। अभ्यासके बलसे जब उसको ठीक २ परीक्षाका ज्ञान जम जाता है तब वह व्यापार करता है। बाजारमें जाकर निर्भय हो ठीक१ रत्नको अपने अनुभवसे रत्न जानकर ग्रहण कर लेता है और दोषपूर्ण रत्नको नहीं लेता है–हरएक विषयकी परीक्षाका ज्ञान यथार्थ अभ्यास विना नहीं होता है। अभ्याससे ज्ञान हो जानेपर भी जबतक उसका अनुभव नहीं होता तबतक वह ज्ञान पक्का नहीं होता। एक परदेशसे आए हुए फलकी मिठाईकी कोई बहुत प्रशसा करता है–हम उसे सुनकर तथा वारवार देखकर उस फलको और फलोंसे भिन्न पहचान सक्के है परतु उस फलमें मिठाई किस जातिकी है इसका ज्ञान ठीक २ तब ही होगा जब हम उस फलको जबानपर रखकर उसके स्वादका अनुभव करेंगे। एक दफे स्वाद जिह्वाद्वारा मालूम हो जानेपर फिर हम कभी उस स्वादको भूल नहीं सक्के। वह स्वादका अनुभव हमें उस फलके भोगनेमें वारवार प्रेरणा करेगा।

आत्माका भी यथार्थ स्वरूप किसी यथार्थ ज्ञाता गुरुसे समझना चाहिये जो स्याद्वाद नयसे - भिन्न -२ -रीतियोंसे

आत्मामें रहे हुए अस्तित्त्व, वस्तुत्त्व, प्रमेयत्त्व, प्रदेशत्त्व, द्रव्यत्त्व, अगुरुलघुत्त्व, नित्यत्त्व, अनित्यत्त्व, एकत्त्व, अनेकत्त्व, आदि साधारण स्वभावोंको और चेतना, सुख, चारित्र, आत्मवीर्य्य, सम्यक्त आदि विशेष स्वभावोंको तथा किस नयसे आत्मा अशुद्ध है व किस नयसे शुद्ध है इत्यादि नयके विकल्पोंको भली भांति समझा सके। जैन सिद्धातने आत्माका स्वरूप जो कुछ माना है वह अन्य सिद्धातोंसे विलक्षण है। इसी वातको परीक्षा करनेको युक्तिवाद है। न्याय सिद्धांतके द्वारा यथार्थ गुरुसे पाए हुए आत्मा के उपदेशकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। फिर भेदज्ञानका अभ्यास करना चाहिये जिससे हमारे विचारमें आत्मा और पुद्गलका एक क्षेत्रावगाह रूप मिश्रण होने पर भी उनका भिन्न २ स्वरूप जो कुछ उनका असली स्वभाव है सो जम जावे— जब दीर्घकालके अभ्याससे इतनी दृष्टि तीक्ष्ण हो जावे कि हम एक वृक्षको दूरसे देखकर उसके भीतर आत्माको वृक्ष प्रमाण भिन्न देखें और उसके शरीरोंके पुद्गलोंको अलग देखें तव हमारा अभ्यास पक्का हुआ ऐसा समझना चाहिये। पश्चात् स्वानुभवके लिये उचित है कि अपने ज्ञानोपयोगको जो अनात्मामें भी भटकता है वहासे उसे छुडाकर अपनी ही आत्माके भीतर उसे सन्मुखकर देवें क्योंकि उपयोग आत्माकी ही परिणति है इससे आत्माके सन्मुख होते ही उपयोग आत्माका अनुभव उसी तरह करलेगा जिसतरह जिह्वा द्वारा किसी फलके स्वादका अनुभव उपयोग करलेता है। आत्माका अनुभव होते ही मोक्षका जो कुछ भी अतीन्द्रिय सुख है वह स्वादमें आजाता है। एक दफे

भी ऐसा स्वाद आनेपर यह स्वाद कितना अनुपम, कितना तृप्तिकारक, कितना बलप्रदायक, कितना गौरवपूर्ण है तथा इसके मुकाबलेमें इन्द्रियजनित सुख कितना मामूली, कितना अतृप्तिकारक, कितना शक्तिनाशक, व कितना निस्तेज है सो अच्छी तरह मालूम हो जाता है इसी लिये शास्त्रकारोंने उसहीको सम्यग्दृष्टी कहा है जिसे आत्माका अनुभव हो जाता है। द्रव्यलिंगी मुनि जो मिथ्यात्त्व कर्मके वशीभूत है अच्छी तरह शास्त्रोंको जान कर भी इस स्वानुभवके पाए विना भावलिंगी नहीं कहे जाते। जैसा कि समयसारजीमें कहा भी है—

वदणियमाणिधरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठवाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥१६०॥

भाव यह है कि व्रत नियमादिको धारते हुए तथा शील और तपोंको करते हुए भी जो निश्चय स्वरूपके अनुभवसे वाहर हैं वे अज्ञानी हैं।

श्री अमृतचद्र स्वामीने भी स्वानुभवका ही उपदेश दिया है—

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनाया।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकाल पिबन्तु ॥४०॥

भाव यह है कि कर्म जो रागद्वेष पूर्ण क्रिया तथा कर्मका फल जो सुख और दुःख इनसे अत्यन्त भिन्नताकी निरतर भावना करके तथा सम्पूर्ण अज्ञान चेतनाके प्रलयको अच्छी तरह नचा करके तथा अपनी ज्ञानचेतनाको जो अपना स्वभाव है व अपने

आत्मीक रसमें लीन है उसको पूर्ण करके ज्ञान होनेके कालसे इस शांतिको आनन्द सहित नचाते हुए सर्व काल पीवो॥

प्रयोजन यह है कि भेद विज्ञानके अभ्याससे ही आत्माका अनुभव होता है और उसका फल मोक्ष सुख मिलता है।

दोहाः—गुरु उपदेश अभ्यास से, निज अनुभवसे भेद।
निज परका जो अनुभवे, लहै स्वसुख वेखेद॥ ३३॥

उत्थानिका—आगे शिष्य प्रश्न करता है कि मोक्ष सुखके अनुभवके सम्बन्धमें गुरु कौन है। आचार्य निश्चय प्रधान करके उपदेश देते हैं—

श्लोक—स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन॥३४॥

सामान्यार्थ—अपने भीतर अपने यथार्थ हितकी अभिलाषा करने, अपने हितको समझमें लेने, तथा अपने आपको अपने हितमें प्रेरणा करनेके कारणसे अपना आत्मा ही अपना गुरु है।

विशेषार्थ—जो कोई शिष्य सदा अपने हितकी वाछा करता है उसको जो उसके हितके उपायको वतलावे तथा अपने हितके उपायमें न वर्तनेवालेको जो वर्तावे सो ही गुरु जगतमें प्रसिद्ध है। ऐसा होनेपर वास्तवमें नीचे लिखे कारणोंसे (आत्मन· गुरु) आत्माका गुरु (आत्मा एव) आत्मा ही है (स्वस्मिन् सन् अभिलाषित्वात्)एक कारण यह है कि अपने ही भीतर अत्यन्त इष्ट जो मोक्ष सुख है उसकी इच्छा होती है अर्थात् ऐसी रुचि कि मोक्षका सुख मुझे प्राप्त हो अपने आप ही अपने भीतर होती है

(अभीष्टज्ञापकत्वत·) दूसरा कारण यह है कि आत्माको जो प्रिय है मोक्ष सुख प्राप्तिका उपाय सो अपने ही आपमें आप जानता है। अर्थात् मोक्ष सुखकी प्राप्तिका ऐसा उपाय है, ऐसा ज्ञान अपने ही भीतर होता है (स्वयं हितप्रयोक्तृत्वात) तीसरा कारण यह है कि मोक्ष सुखके उपायमें आत्मा स्वयं अपनेको लगाता है। इस तरह विचारता है कि हे दुरात्मन् आत्मा! तू मोक्ष सुखके उपायको जिसका मिलना बहुत ही दुर्लभ है अब जान चुका है अब भी तू उसमें नहीं वर्तन करता है, इस तरह अपने आप न प्रवर्तने वालेको आप ही प्रेरणा करके प्रवर्ताता है। इन तीन कारणोंसे असलमें आत्माका गुरु आत्मा ही है।

भावार्थ-यहां पर आचार्य दिखलाते हैं कि वास्तवमें अपना भला अपने ही द्वारा होता है। बाहरी उपदेश केवल निमित्त मात्र है। जब अंतरगमें आत्माके भी अपने कल्याण करनेकी अर्थात् स्वाधीनता प्राप्त करनेकी रुचि होगी तब ही वह उसके उपायोंको जाननेका उद्यम करेगा। मोक्ष प्राप्तिके क्या २ उपाय हैं उनका ज्ञान जब आत्माको होता है तब यह आत्मा आप ही अपनेको उन उपायोंको आचरणमें लानेकी प्रेरणा करता है। विना अतरंग आत्मीक उत्साहके उत्पन्न हुए कदापि आत्माका हित नहीं हो सक्ता है। इन कारणोंसे अपनी रक्षा वास्तवमें अपने ही द्वारा होती है ऐसा ही श्री समाधिशतकमें भी कहा है.—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव वा।
गुरुरात्मात्मनः तस्मान्नान्योस्ति परमार्थतः।

भाव यह है कि आत्मा अपनेको आप ही चाहे संसारमें चाहे मोक्षमें ले जा सक्ता है। इसलिये आत्माका गुरु आत्मा ही है दूसरा कोई नहीं है, निश्चयसे यही बात ठीक है। आत्मा अपने परिणामोंका आप ही करनेवाला है। जब अशुभ भावोंको करता है तब पाप बंधको, जब शुभ भावोंको करता है तब पुण्य बंधको और जब शुद्ध भावोंको करता है तब बंधके नाश अर्थात् मोक्षको करता है। दूसरा कोई इसको पापी, पुण्यात्मा या मोक्ष रूप नहीं कर सक्ता आप ही यदि मोहके प्रपंचमें फंसा रहे तो संसारमें भ्रमण करता है और यदि मोहके प्रपंचसे हटकर शुद्धोपयोगके सन्मुख हो तो स्वयं कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। इस कथनसे आचार्यने यह भी बताया है कि हमारे भाग्यको बनाने वाला व हमें नर्क स्वर्गमें पटकने वाला व हमें निर्वाणमें भेजने वाला कोई और नहीं है। जैसे तोता अपनी ही भूलसे कमलनीके डंडीको पकड़कर यह समझता है कि कमलनीने मुझे पकड लिया है और इस तरह आप ही उडनेको अशक्य हो जाता है और जब वह इस भूलको छोडे और यह समझे कि मैंने ही कमलिनीको पकड़ा है-मै चाहे जब इसे छोड दूं तब उड सक्ता हूं तो वह आप ही उस पकडके बंधसे छूटकर उड सक्ता है। वैसे ही आत्माने अपने अज्ञानसे संसारसे मोह बांध रक्खा है और अपनेको बंधमें जकड़ रक्खा है। जब यह आत्मा आप ही अपने अज्ञानको छोड़ और यह अनुभव करे कि मैं तो सर्व परसे भिन्न ज्ञाता दृष्टा आनन्द मई एक चेतन्य पदार्थ सिद्ध सम हूं तब यह आप ही अपने सम्यग्ज्ञानके बलसे बंधसे छूटकर मुक्त हो सक्ता है। इस कारण यही बात ठीक है कि आत्माका गुरु आत्मा ही है।

दोहाः–आपहि निजहित चाहता, आपहि ज्ञाता होय।
आपहि निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय ॥ ३४ ॥

उत्थानिका–ऐसा सुनकर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि हे भगवन्! ऊपर कही हुई नीतिसे परस्पर आप ही शिष्य गुरुपनाके निश्चय होते हुए मुमुक्षुके लिये किसी धर्माचार्य आदि गुरुकी सेवा आवश्यक न होगी अर्थात् मोक्ष हितू द्वारा कोई धर्माचार्य आदि बाहरी गुरु सेवने योग्य न रहेगा किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धांतके विरोधका प्रसंग आवेगा इस शंकाको कहनेवाले शिष्यके लिये आचार्य कहते हैं–

श्लोक–नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

सामान्यार्थ—अज्ञानी जड मूर्ख जीव ज्ञाता नहीं बन सक्ता वैसे ही ज्ञानी मूर्ख जड नहीं हो सक्ता है। दूसरा तो केवल उतना ही निमित्त मात्र है जैसे अपनी शक्तिसे चलनेवाले जीव पुद्गलोंके लिये धर्मास्तिकाय निमित्त होता है।

विशेषार्थ—हे भद्र (अज्ञ) तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके अयोग्य अभव्य आदि जीव (विज्ञत्व न आयाति) धर्माचार्यादिके हजारों उपदेशोंके निमित्त मिलनेपर भी तत्त्वज्ञानको नहीं प्राप्त करसक्ते। जैसा कहा है–

"स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥"

भाव यह है कि किसीकी अवस्थाके पलटनेमें उसकी स्वाभाविक क्रिया व स्वाभाविक गुणकी अपेक्षा ही आवश्यक है।

सैकड़ों व्यापारोंके करनेपर भी बगलेको तोतेके अनुसार नहीं पढ़ाया जासक्ता है तथा (विज्ञ) तत्त्वज्ञानी (अज्ञत्व न ऋच्छति) हजारों विघ्नोंके आनेपर भी तत्त्वज्ञानसे छूटकर अज्ञानी नहीं हो जाता है। जैसा कहा है—

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोक।
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात्।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः।
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु॥

भाव यह है कि वज्र गिरने पर भी ऐसे वक्तमें जब सर्व लोक भयसे भाग रहे हों और मार्गको छोड दिया हो, शांत स्वभावी सम्यग्दृष्टी जीव जिनका मोह रूपी महा अन्धकार ज्ञान दीपके प्रकाशसे दूर हो गया है वे अपने ध्यानसे चलायमान नहीं होते तब वे शेष परीषहोंके आनेसे कैसे चलायमान होजावेंगे। जब ऐसा है तब बाहरी निमित्तका खंडन होजायगा इस पर आचार्य कहते हैं कि (अन्य: तु) अन्य गुरु व शत्रु आदि तो (निमित्तमात्र:) प्रारंभ किये हुए कार्यके बनाने व विगाडनेमें निमित्त मात्र हैं। कार्यके होने न होनेमें उनकी योग्यता ही मुख्य साधन है। जैसे (गते) अपने ही गमन स्वभावसे चलनेको सन्मुख जीव पुद्गलोंके लिये चलनेमें उनकी गमन शक्ति ही मुख्य साक्षात् साधन है क्योंकि शक्तिके विना वे किसी भी उपायसे चलाए जानेको असमर्थ है (धर्मास्तिकायवत्) परन्तु पुद्गल जीवोंको गमन करनेमें उदासीन सहकारी धर्मद्रव्य तो केवल सहकारी कारण मात्र है–जैसे यह दृष्टांत है

इसी तरह दार्ष्टांतमें भी समझना चाहिये कि गुरु आदि केवल बाहरी निमित्त है इस कारण व्यवहारसे ही गुरु आदिकी सेवा करनी योग्य है।

भावार्थ—आचार्य यहां उपादान कारणकी मुख्यतासे उपदेश कर रहे हैं कि जो अभव्य जीव है व जिसके मिथ्यात्वका आवरण बहुत गहरा है ऐसा भव्य जीव है उसको किसी भी उपायसे यहां तक कि हजारों गुरुओंके उपदेश मिलने पर भी तत्त्वज्ञानकी ऐसी प्राप्ति नहीं हो सक्ती कि वह भिन्न आत्माको जानकर उस आत्माका यथार्थ अनुभव कर सके। इसी तरह जिस भव्य जीवको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होकर आत्माका साक्षात् अनुभव प्राप्त हो गया है उसको कोई करोडों यत्न करने पर भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टी नहीं बना सक्ता है। इससे यह बताया गया है कि जिस किसीमें किसी बातकी योग्यता नहीं होती तो उसको कोई भी उसमें लाख यत्न करने पर भी पैदा नहीं कर सक्ता है जैसे अंधपाषाणमेंसे कोई भी सुवर्ण नहीं निकाल सक्ता तथा जिसमें योग्यता होती है व उसकी योग्यताको कोई भी बाहरी प्रयोग मिटा नहीं सक्ता है जैसे सुवर्ण पाषाणमें सुवर्ण है उसे कोई दूर नहीं कर सक्ता। योग्यता होने पर ही दूसरा कोई सहकारी कारण पड सक्ता है। और उस सहकारी कारणकी भी आवश्यक्ता है क्योंकि उपादान और निमित्तके विना कोई भी कार्य इस लोकमें नहीं हो सक्ता है। जैसे जीव पुद्गल यद्यपि अपने स्वभावसे गमन करते हैं परन्तु यदि धर्मास्तिकायकी सत्ता न हो तो उनका गमन नहीं हो सक्ता है। इसी कारणसे मुक्त

जीव लोकाकाशके बाहर नहीं जाते। यद्यपि हरएक कार्यमें निमित्तकी आवश्यक्ता है। तथापि उपादान कारण मुख्य माना जाता है क्योंकि वही स्वयं कार्यमें परिणत होता है। इसीलिये अग्नि, चूल्हा वर्तन आदिका निमित्त मिलानेके पहले रोटी तय्यार करनेके लिये गेहूं आदि अन्न लानेकी आवश्यक्ता पडती है क्योंकि वे ही रोटी दालकी पर्यायमें पलटते है। इसी तरह आत्माके सुधार व बिगाड़में अंतरंग योग्यता, रुचि, व प्रेरणा ही मुख्य कारण है। यद्यपि बाहरी गुरु व शत्रुके उपदेश आदिके उपायोंका होना भी आवश्यक है क्योंकि निमित्त विना उपादानका काम नहीं करसक्ता तथापि यह निमित्त सहायक मात्र है इसकी गौणता है तथा उपादान कारणकी मुख्यता है। जैसे पृथ्वी होते हुए ही हम चल सक्ते-यद्यपि हम अपनी शक्तिसे चलते है। इसी तरह अपने कल्याणके लिये हमको बाहरमें किसी धर्माचार्य गुरुकी सेवा आवश्यक है। उससे दीक्षा शिक्षा लेना योग्य है। गुरुसे शिक्षा मिलने पर भी अपने आत्माकी अंतरंग प्रेरणा ही हमें मोक्ष पथ पर लेजायगी इससे अपने आत्माका गुरुपना मुख्य है और बाहरी गुरुका उपदेश गौण है। तौभी हमें उचित है कि व्यवहारमें वर्तते हुए, गुरुको अपना उपकारी समझकर उनकी यथायोग्य विनय भक्ति करें। गुरु महाराजसे लाभ लेनेमें भी हमारी अंतरंग प्रेरणा मुख्य है। वास्तवमें अपनी रुचि परम प्रबल कारण है अपने हितके होनेमें। गुरु विना यथार्थ ज्ञान नहीं होता यह बात भी ठीक है क्योंकि गुरु वस्तुके स्वभावके ज्ञाता है वह शब्दों द्वारा हमें समझा सक्ते हैं। इसी लिये

इमको गुरुकी सेवाको आवश्यक सहायक कारण मानकर उनकी भक्ति व्यवहारमें करनी ही चाहिये तौ भी इस श्रद्धानको दृढ़ रखना चाहिये कि केवल गुरु भक्तिसे उद्धार न होगा, उद्धार अपने शुद्ध भावोंसे ही होगा इस अपेक्षा शुद्ध भावोंको मुख्य और बाहरी आलम्बनको गौण करके माना जाता है। गौण होनेपर भी व्यवहारमें उसको मुख्य मानके वर्तन करना उचित है।

दोहा:-मूर्ख न ज्ञानी होसके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्तमात्र पर जान जिम-गती धर्मते होय ॥ ३५ ॥

उत्थानिका—अब शिष्य प्रश्न करता है कि महाराज! आत्माका अभ्यास किसतरह किया जावे इसके उत्तरमें गुरु शिष्यके समझानेके लिये अभ्यासको कहते है जिसका मतलब है कि वारवार किसी वस्तुमें प्रवृत्ति करना इस अभ्यासके लिये स्थानके नियमादिका उपदेश करते हैं तथा स्वसंवेदनका भी भाव बतलाते हैं-

श्लोक-**अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः।**
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः॥३६॥

सामान्यार्थ-जिसके चित्तमें रागादि क्षोभ न हो व जो आत्मास्वरूपमें स्थित हो ऐसा योगी एकांत स्थानमें अपने अपने आत्माके तत्त्वका सावधान होकर अभ्यास करे।

विशेषार्थ-(अभवच्चित्तविक्षेप) जिसके मनमें रागद्वेषादिकी आकुलताएं उत्पन्न होती हों (तत्त्वसंस्थिति) व जो हेय उपादेयतत्त्वमें गुरुके उपदेशसे निश्चल बुद्धि हो चुका हो अथवा

साध्य वस्तु जो आत्मा उसमें भले प्रकार जैसा आगममें कहा है कायोत्सर्ग आदिके द्वारा लवलीन हो ऐसा (योगी) संयमी पुरुष (निजात्मन: तत्त्वं) अपने ही आत्माके यथार्थ स्वरूपको (अभियोगेन) आलस्य निद्रा आदि असावधानीको छोड़कर (अभ्यस्येत्) वारवार भावे ॥

भावार्थ–यहांपर आचार्यने बतलाया है कि आत्मानुभवके प्राप्त करनेके लिये योगी या संयम धारी मुनि या गृहस्थको उचित है कि निश्चय नयके द्वारा इस षट् द्रव्यमयी जगतको देखकर समता भावको चित्तमें पैदा करे और व्यवहार दृष्टिमें देखनेसे जो पदार्थ इष्ट अनिष्ट मालूम होते थे उनमें राग द्वेष मोह न करे तथा भेद ज्ञानके बलसे आत्माके स्वरूपको उपादेय और अनात्माके स्वरूपको हेय समझे तथा जहांपर चित्त क्षोभके कारण न हों ऐसे एकांत स्थानमें कायोत्सर्ग या पद्मासन या अन्य किसी आसनसे स्थिति होकर अपने स्वरूपमें अपने उपयोगको हेय पदार्थोंसे हटाकर जोड़े इस तरह अपने ही आत्माके यथार्थ स्वरूपको बड़ी सावधानीसे निद्रा प्रमादमें न फसता हुआ वारवार भावे–अनुभव करे–आत्मरसका स्वाद ले–इसी ही रीतिसे अभ्यास करते २ स्वानुभव या स्वसंवेदन या स्वसंवित्ति स्वयं हो जाती है। वास्तवमें ज्ञानोपयोगको अपने ही द्रव्यमें ठहरना ही योगाभ्यास है–शुद्ध निश्चयनयके प्रतापसे अपना ही आत्मा सिद्धसम मालूम होता है–बस इसी स्वरूपमें तन्मय होना आत्मध्यान है।

भावनाके लिये इस तरह कहा है–

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥ १४७ ॥

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥ १४८ ॥

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥ १४९ ॥

अचेतनं भवे नाहं नाहमप्यस्त्यचेतनं।
ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ॥ १५० ॥

योऽत्र स्वस्वामिसंबंधो ममाभूद्वपुषा सह।
यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः ॥ १५१ ॥

जीवादिद्रव्ययाथात्म्यज्ञातात्मकमिहात्मना।
पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासानोऽस्मि वस्तुषु ॥ १५२ ॥

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥ १५३ ॥

सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असन्नेवास्मि चात्यंतं पररूपाद्यपेक्षया ॥ १५४ ॥

यन्न चेतयते किंचिन्नाचेतयत किंचन।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहं ॥ १५५ ॥

यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा।
चेतनीयं यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहं ॥ १५६ ॥

स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत्।
नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥ १५७ ॥

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन ॥ १५८ ॥

एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः।
विधाय तन्मयं भावं न किंचिदपि चिंतये ॥ १८९ ॥

भाव यह है कि यह आत्मा असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तीक, चेतन्य स्वरूप, शुद्ध, सिद्ध समान है जिसका लक्षण दर्शन और ज्ञान है-ऐसा जो मैं सो मै अपनी आत्मा सिवाय अन्य नहीं हूं न दूसरा कोई मुझ रूप है न मै दूसरेका हूं न दूसरा कोई मेरा है, जो अन्य है सो अन्य है, मैं हूं सो मैं ही हू, अन्य अन्यका है, मैं अपना ही हूं। शरीर मुझसे भिन्न है, में उससे भिन्न हूं में चेतन हूं शरीर अचेतन है, मै एक अखड हूं शरीर परमाणुओंका समुदाय रूप अनेक है, मै अविनाशी हू, यह देह नाशवंत है, मैं कभी अचेतन नहीं होता हूं न अचेतन मुझ रूप होता है, मै ज्ञान स्वरूप हूं, मेरा कोई सम्बधी नहीं है, न मैं दूसरे किसीका हूं जो कोई मेरा शरीरके साथ स्वामीपना माननेका सम्बध व जो उसके साथ एकताका भ्रम था सो पर जो मिथ्यात्व कर्म उसके निमित्तसे था अपने स्वभावसे नहीं था। मैं अपने ही द्वारा अपनेमें जीवादि द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले आत्माको अनुभव करता हुआ समस्त पदार्थोमें उदासीन हूं। मैं सत् द्रव्य हूं मैं चैतन्यमई हूं मैं ज्ञाता दृष्टा हूं, सदा ही उदासीन हू, मैं अपने शरीरके प्रमाण आकार रखते हुए भी शरीरसे आकाशके समान भिन्न अमूर्तिक हूं। मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षा सदा ही सत् रूप हूं तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अत्यन्त ही असत् हू। जो कोई कुछ भी नहीं समझता है व जिसने कुछ नहीं समझा था व जो कोई

नहीं समझेगा वह शरीरादि जड है किन्तु मैं नहीं हू । जिसने पहले समझा था जो अब समझता है व जो आगे भी समझेगा वह चैतन्य द्रव्य मैं ही हूं । यह जगत् स्वयं मेरे लिये न इष्ट है न अनिष्ट है किन्तु उपेक्षाके योग्य है । मैं स्वय न इसको इष्ट मानता न अनिष्ट मानता किन्तु उपेक्षा रखता हूं। यथार्थपने मुझसे शरीरादि भिन्न है मैं उनसे भिन्न हूँ न मैं उनका कोई हू न वे मेरे कोई हैं । इस ऊपर लिखे प्रमाण अपने आत्माको भलेप्रकार निश्चय करके कि यह अन्य सबसे भिन्न है अपनी आत्मासे तन्मयी भाव धारण करके कुछ भी नहीं चिन्तवन करे । इस तरह वारवार ध्यानका अभ्यास करनेसे स्वसवेदन रूप स्वात्मानुभव अवश्य झलकता है ।

दोहा:-क्षोभरहित एकान्तमें, तत्वज्ञान चित लाय ।
सावधान हो सयमी, निज स्वरूपको भाय ॥ ३६ ॥

उत्थानिका-शिष्य प्रश्न करता है कि आपने जिस स्वानुभवका वर्णन किया है वह स्वानुभव हमारे भीतर है, यह योगीको किस उपायसे मालूम पड़े और कैसे प्रत्येक क्षण उस स्वानुभवकी उन्नति होती है-आचार्य इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि हे धीमान् ! तू सुन मैं तुझको उसका चिह्न कहता हूं।

श्लोक-**यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि॥३७॥**

सामान्यार्थ-जैसे जैसे उत्तम आत्मतत्व अपने अनुभवमें आता जाता है वैसे वैसे सहजमें प्राप्त हुए इन्द्रियोंके विषय भी नहीं रुचते हैं-

विशेषार्थ–(यथा यथा) जिस जिस प्रकारसे (उत्तमम् तत्त्वम्) विशुद्ध आत्माका स्वरूप (संवित्तौ) स्वसवेदनमें (समायाति) सन्मुख आता जाता है (तथा तथा) तैसे तैसे (सुलभा अपि) बिना परिश्रमके अकस्मातसे प्राप्त हुए भी (विषया) सुंदर इंद्रियोंसे भोगने योग्य पदार्थ (न रोचंते) भोग्य बुद्धिको नहीं पैदा करते हैं। लोकमें भी यह बात प्रसिद्ध है कि जिसे महासुख मिलता है वह अल्पसुखके कारणोंका आदर नहीं करता है।

ऐसा ही कहा है.–

शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमंग पुनरंगमंगाराः।

भाव यह है कि शांत सुखसे जितना मन शांत हो गया है उनको भोजन भी अच्छा नहीं मालूम होता तब और इंद्रियोंके विषय कैसे सुहावेंगे जैसे मछलियोंको जब जमीन मात्र ही जलाडालती है तब अग्निके अंगारे उनको कैसे न जलावेंगे–इसलिये यह बात सिद्ध है कि विषयोंसे अरुचिका होना ही योगिके स्वात्मानुभवको प्रकाश करनेवाली है। विषय अरुचिके अभावमें स्वात्मानुभवका भी अभाव है तथा विषयसे अरुचि बहुत बढ़ जानेपर स्वात्मानुभव भी बहुत बढ जाता है।

भावार्थ–यहां आचार्यने आत्मानुभव होनेका यह चिह्न बताया है कि योगीका मन विषयवासनासे इतनी अरुचि करने लगे कि सहजमें मिलते हुए भी सुन्दर इन्द्रियके विषय भोगोंको जो भोगनेकी इच्छा न करे–यह चिन्ह इसी लिये बताया है कि जब आत्मानुभव होता है तब उसका अविनाभावी आत्मानन्दका

स्वाद होता है। और उस स्वादसे ऐसी तृप्ति होती है व ऐसी निराकुलता होती है कि जब वह विषयजन्य सुखका मुकाबला करता है तब उसको विषयोंका पराधीन सुखदुःखरूप त्यागने योग्य भासने लगता है। जिसको उत्तम सुख मिलने लगे वह पराधीन अल्प आकुलतारूप सुखकी कैसे रूचि अपनेमें रखसक्ता है ?। लौकिकमें भी यह बात देखनेमें आती है कि जिसे अपने ही घरमें अपने प्रबन्धसे मोहनभोग मिलने लगते है फिर वह दूसरेसे मांगकर मिठाई खानेकी इच्छाको बन्द कर देता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानीका यही चिह्न है कि उसके ज्ञान वैराग्यकी शक्ति बढ़जाती है जिससे संसार शरीरभोगोंको वह तुच्छ तथा हेय समझता है और आत्मिक स्वाधीनता व आत्मीक शांति और सुखको उपादेय समझता है।

पंचाध्यायीकारने भी इस भांति कहा है:—

वैराग्यं परमोपेक्षा ज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद् द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥२३२॥
ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ २३८ ॥
वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम्।
रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ॥२५९॥
उपेक्षा सर्वभोगेषु सदृष्टेर्दृष्टरोगवत्।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥२६१॥

भाव यह है कि सम्यग्ज्ञानी वैराग्य अर्थात् परम उदासीनता रूप ज्ञान तथा आत्माका अनुभव स्वयं करता रहता है। ये ही दो चिन्ह ज्ञानीके है—ऐसा ही सम्यग्ज्ञानी जीव-मुक्त रूप हो-

जाता है। सम्यग्ज्ञानी जानता है कि जो सर्व इन्द्रियोंके विषय भोगसे होनेवाला सांसारिक सुख है वह वास्तवमें सुख नहीं है किन्तु सुखसा मालूम पडता है निश्चयसे वह दुःख ही है क्योंकि आकुलताका पैदा करनेवाला है। इसीलिये सम्यग्दृष्टियोंका रागभाव विषयजन्य सुखमें नहीं होता है क्योंकि विषयोंकी रुचि अज्ञानता है जो नियमसे मिथ्यादृष्टिके ही होती है। सम्यग्दृष्टिको प्रत्यक्षमें देखे हुए रोगकी तरह सम्पूर्ण भोगोंमें उपेक्षा या उदासीनता हो चुकी है और ज्ञानकी अवस्थामें ऐसा होना अवश्यभावी स्वाभाविक है।

जघन्य श्रेणीके भी सम्यग्दृष्टीके इसी लिये अन्यायके विषय भोग छुट जाते हैं—न्याय पूर्वक विषय भोगोंको भी रोगके इलाजवत् कड़वी औषधिके समान भोगता हुआ सदा उनसे छुटनेकी ही भावना करता रहता है। ऐसा ही पंचाध्यायी-कार कहते है—

व्याधीपीड़ितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक् प्रतिक्रियाम्।
तदात्वे रुक् पदं नेच्छेद् काकथा रुक् पुनर्भवे ॥ २७१ ॥

भाव यह है कि रोगसे पीड़ित मनुष्य रोगका इलाज करता हुआ भी उस समयके रोगको भी नहीं चाहता तब क्या फिर रोग होनेकी इच्छा करेगा? कभी नहीं इसी तरह—

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम्।
नेच्छेत कर्मपदं किञ्चित साभिलाषः कुतो नयात् ॥ २७२ ॥

(भाव यह है) सम्यग्ज्ञानी भी चारित्र मोहनीयकर्म कषायसे पीडित होकर उस कर्मके उदयसे होनेवाली क्रियाको करता है

परन्तु उस क्रियाको कुछ भी नहीं पसंद करता है तब उसके भोगोंकी अभिलाषा होती है ऐसा किस नयसे कहा जा सक्ता है?

सम्यग्दष्टीका यही चिन्ह है जो उसकी रुचि इद्रिय सुखसे हटकर अतीन्द्रिय आनन्दमें हो जावे जो आत्माका ही स्वभाव है। फिर जैसे जैसे सम्यग्दष्टीकी रुचि न्यायपूर्वक विषयोंसे भी हटती जाती है त्यों २ स्वानुभवकी वृद्धि होती जाती है।

दोहा—जस जस आतम तत्त्वमें, अनुभव आता जाय।
तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय॥ ३७॥

उत्थानिका—आगे आचार्य बताते है कि जैसे २ विषयोंकी रुचि हटती जाती है वैसे २ स्वानुभव भी बढता जाता है—

**श्लोक—यथा यथा न रोचंते विषया. सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥३८॥**

सामान्यार्थ—जैसे जैसे सुलभ भी इन्द्रियोंके विषय नहीं सुहाते है वैसे वैसे उत्तम आत्मतत्त्व अपने अनुभवमें आता जाता है।

विशेषार्थ—पूर्व श्लोकके समान है—तथा कहा भी है—

“ विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसि पुसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः॥ ”

भाव यह है कि हे शिष्य और अधिक व्यर्थके कोलाहलसे क्या सिद्धि होगी। तू विरक्त हो और निश्चिन्त होकर स्वयं ही छः मास तक एक आत्मस्वभावका अनुभव कर तो क्या तेरे हृदयरूपी

सरोवरसे पुद्गलसे भिन्न तेजवाले आत्माकी प्राप्ति न होगी? अर्थात् अवश्य होगी।

भावार्थ—जैसे २ यह अभ्यास करनेवाला विषयोंके पदार्थोंकी परिग्रहको घटायेगा वैसे २ आत्मा निश्चिन्त व निराकुल होकर स्वात्मानुभव करेगा। विषय चाह और आत्मानुभवका विरोध है। सम्यग्दृष्टीके वास्तवमें विषय चाह नहीं रहती, वह आत्मानंदका ही स्वादी हो जाता है। परंतु जघन्य अवस्थामें अर्थात् चौथे पाचवे गुणस्थानमें जबतक यह आरंभ परिग्रहधारी गृहस्थ रहता है, अप्रत्याख्यानावरणी और प्रत्याख्यानावरणी कषायोंका उदय रहता है जिनके उदयसे इन्द्रियोंमें विषय भोगकी आकुलता पैदा होती है उस समय श्रद्धान अपेक्षा वैराग्य होनेपर भी चारित्र अपेक्षा वैराग्य व आत्मानुभव इतना बलवान नहीं होता जो उस आकुलताको सहजहीमें मेट दे तब वह सम्यग्दृष्टी भी आकुलता रूपी रोगके इलाजके समान उसके मेटनेको न्याय पूर्वक इन्द्रिय विषयोंको हेय बुद्धिसे सेवन करता है। परतु-आत्मानुभवका अभ्यास ज्यों २ करता है परिणामोंकी विशुद्धताके प्रभावसे जैसे मंत्रशक्तिसे सर्प विष उतर जाता है वैसे मोहनी कर्मका अनुभाग या जोर घटता जाता है। ज्यों २ मोहनी कर्मका बल घटता विषय चाह कम होती जाती। ज्यों २ आकुलता घटती जाती—उतनी उतनी ही आत्मामें विशेष ध्यान करनेकी शक्ति बढ़ती जाती। ज्यों २ ध्यान शक्ति बढ़ती जाती उतनी २ ही विषय रुचि घटती जाती। जैसे किसी रोगीका जितना २ रोग घटता जाता उतना २ उसको

भोजन खानेकी रुचि बढती जाती। ज्यों २ वह योग्य भोजन करता उतनी २ शक्ति बढ़ती जाती। ज्यों २ शक्ति बढती जाती त्यों २ रोग अधिक शमन होता जाता। इस तरह परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बंध होता है अर्थात् एक दूसरेके लिये सहायक होते हैं ऐसा ही हाल विषय चाह रूपी रोगके शमनका जानना। उसके लिये औषधि आत्मानुभव ही यथार्थ है। विषयभोग करनेसे यद्यपि वर्तमानकी आकुलता घट जाती है परंतु वह चाह दाहको बढानेमें कारण हो जाती है। यदि कोई सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी न हो और यह चाहे कि मैं विषय भोगोंके द्वारा अपनी विषयचाहकी आकुलताको मिटा डालूंगा तो ऐसा होना उसी तरह असंभव है जैसे यह कहना कि समुद्र नदियोंके प्रवाहको लेते लेते तृप्त हो जायगा-व अग्नि काष्टके डालनेसे बुझ जायगी। व अग्निके तापसे प्यास बुझ जायगी इत्यादि-यह तो अतींद्रिय सुखके लाभ होनेमें ही शक्ति है कि वह आनन्द उन कषायोंका बल घटा देता जिनके उदयसे चाह दाह पैदा होती है। इसीसे सम्यक्ती जीवको विषय भोगको सेवते हुए भी असेवक कहा है। जैसा कि अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं-

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वंफलं विषयसेवनस्यना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपितदसावसेवकः॥३॥

भाव यह है कि जो सम्यग्दृष्टी विषयोंको सेवते हुए भी विषयसेवनसे जो कटुक फल मिथ्यादृष्टी-अज्ञानीको होता है वह फल नहीं प्राप्त करता है इससे वह अपने ज्ञान, रूप, धन और वैराग्यके बलसे सेवता हुआ भी असेवक ही रहता है-प्रयोजन

यही है कि ज्ञानी हेयबुद्धिसे आशक्ति रहित सेवता है ।

जितना २ स्वसंवेदन ज्ञान बढता जाता है उतना कषायोंका बल घटता जाता है—इस तरह होते २ जब अप्रत्याख्यानावरणीका बल घट जाता है और वह उपशम हो जाती है तब वह गृहस्थ पांचवे दरजेमें आकर देशव्रती श्रावक हो जाता है । वहां प्रत्याख्यानावरणी कषायका उदय होता है—उसका बल भी ज्यों २ आत्मानुभवके प्रतापसे घटता जाता त्यों २ अधिक २ इच्छा कम होकर परिग्रह आरम्भ घट जाता और वह क्रम क्रमसे दर्शन व्रत आदि १४ प्रतिमाओंमें बढता जाता जब आत्मानुभवका प्राबल्य होजाता तब प्रत्याख्यानावरणी भी उपशम हो जाती और तब यह सर्व आत्मपरिग्रह रहित निर्ग्रन्थ साधु हो जाता । इसतरह आत्मानुभवके प्रतापसे विषय चाह दबती त्यों २ चारित्र धारण करता—और चारित्र अधिक होता अधिक ध्यान करता त्यों २ कषाय घटती और चारित्र अधिक होता जाता । इसीही उपायको करते २ गुणस्थानोंमें बढ़ता चला जाता और यदि वह तद्भव मोक्षगामी होता तो सूक्ष्मसापराय गुणस्थानके अंतमें सर्व मोहको क्षयकर क्षीणमोह १२वें गुणस्थानमें पहुंच जाता फिर एक लघु अंतर्मुहूर्त पीछे तीनों घातिया कर्मोंका भी नाशकर सयोगकेवली अरहंत परमात्मा हो जाता है । यह सब महिमा आत्मानुभवकी है ।

ग्यारह प्रतिमाओंमें चारित्रकी वृद्धि नीचे लिखे क्रमसे होती है—

१ दर्शन प्रतिमा-सम्यग्दर्शनके अतीचार बचाते हुए सात व्यसनका त्याग व अष्ट मूलगुण धारण, पानी छानना व रात्रिभोजनका त्याग-इनके अतीचारोंको भी त्याग देता है जिससे इस दरजेमें श्रावकका खानपान मर्यादाके अनुसार शुद्ध होजाता है-परम संतोषी होजाता है-अभक्ष्य बिलकुल छूट जाता है। अन्यायके निमित्त नहीं रहते हैं जैसे तास खेलना, वेश्यानृत्य देखना आदि। आत्मानुभवकी गाढ़ प्रीति होजाती है जिससे देवभक्ति, गुरुभक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तथा तप अर्थात् आत्मध्यान और दान इन छः कर्तव्योंमें नित्य लगा रहता है।

२ व्रतप्रतिमा-इस दरजेमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वस्त्री संतोष व परिग्रह प्रमाण इन पांच अणुव्रतोंको धारता है-इनके २५ पचीस अतीचारोंको भी टालता है। तथा दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंड त्याग इन तीन गुणव्रतोंको और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथि संविभाग इन चार शिक्षाव्रतोंको भी पालता है। सामायिकके द्वारा आत्मरसका अधिक पान करता है।

३ सामायिक प्रतिमा-इसमें दोष रहित होकर तीनों संध्याओंमें सामायिक नियमसे करता है जिससे आत्मानुभवकी शक्तिको बढ़ाता है।

४ प्रोषधोपवास प्रतिमा-इसमें सोलह, बारह या आठ पहर तक यथाशक्ति सर्व आरम्भ छोड़कर उपवास करता है तथा धर्म ध्यानमें लीन रहता है। जिससे आत्मानुभव करनेकी शक्तिको और भी बढ़ाता है।

५ **सचित्त त्याग**–इसमें सचित्त जल व भोजनको त्याग देता है–प्रासुक जल व भोजन करता है।

६ **रात्रि भोजन त्याग**–इसमें रात्रिको दूसरोंको भी नहीं जिमाता है।

७ **ब्रह्मचर्य**–इसमें अपनी स्त्रीसे भी उदासीन होकर आजन्म स्त्री सेवनका त्यागी हो जाता है।

८ **आरंभ त्याग**–द्रव्य कमाने व भोजन बनाने आदिके आरम्भको छोड देता है–अपना कुटुम्बी व अन्य कोई जो आदरसे बुलावे वहा भोजन कर लेता है और रात्रि दिन धर्म विचारमें काटता है।

९ **परिग्रह त्याग**–सर्व द्रव्यादि त्यागकर कुछ वस्त्र व कुछ भोजन रख लेता है।

१०–**अनुमति त्याग**–लौकिक कार्योंमें अपनी संतानको सम्मति देनेका त्याग कर देता है।

११–**उद्दिष्ट त्याग**–यहां निमत्रणसे भोजन नहीं करता· भिक्षा वृत्तिसे जाता है। जो श्रावक पड़गाहते हैं वहां संतोषसे जो शुद्ध आहार मिले उसे जीमता हुआ रात्रिदिन आत्मानंदमें लीन रहता है। इस प्रतिमाके दो भेद है–एक क्षुल्लक जो एक लंगोट व १ चादर जिससे सर्व शरीर न ढके, रखते हैं तथा मोरपिच्छिका जीव रक्षार्थ और कमंडल शौचके लिये रखते हैं। दूसरे ऐलक जो केवल एक लंगोट रखते हैं, मोर पीछी व काष्टका कमंडल रखते हैं। हाथमें ही भोजन करते है। नियमसे अपने हाथोंसे अपने केशोंका लोच करते हैं। इन प्रतिमाओंमें पूर्वके नियमोंमें आगेके

नियम बढते जाते हैं। इस तरह कषाय ज्यों २ घटती है बाहरी चारित्र भी बढता जाता और अंतरंग चारित्र जो आत्मामें तल्लीनपना है वह भी बढता जाता। ऐसा तात्पर्य है—

दोहा:—जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।
तस तस आतम तत्वमें, अनुभव बढता जाय ॥ ३८ ॥

उत्थानिका—अब गुरु आप ही शिष्यको कहते हैं कि जब स्वात्मानुभव बढ़जाता है तब क्या क्या चिन्ह होते हैं सो तू सुन।

श्लोक—**निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत्।**
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

सामान्यार्थ—योगी इस सम्पूर्ण जगत्‌को इन्द्रजालके खेलके समान देखता है तथा आत्मलाभकी इच्छा करता रहता है। यदि आत्मलाभके सिवाय अन्य कार्यमें उलझता है तो पश्चाताप करता है।

विशेषार्थ—अपने आत्माका अनुभव करनेवाला योगी ध्याता (निःशेष जगत्) इस सर्व चार अचर पदार्थोंसे भरे हुए लोकको (इंद्रजालोपमम्) इन्द्रजालके खेल द्वारा दिखलाए हुए सर्प हार आदि पदार्थोंके समान हेय और उपादेय रूपसे यदि बुद्धिसे विचार किया जाय तो अवश्य छोडने योग्य है ऐसा (निशामयति) देखता है। तथा (आत्मलाभाय) चिदानदमई अपने आत्माके स्वभावको अनुभव करनेकी (स्पृहयति) इच्छा करता है तथा (अन्यत्र) अपने आत्माके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थमें पूर्व संस्कार आदिके वशसे (गत्वा) मन वचन काय द्वारा

जाकर अर्थात् वर्तनकर (अनुतप्यते) मनमें बहुत पश्चाताप करता है कि बड़े खेदकी बात है और मैं क्यों इस आत्मासे विरुद्ध अनात्मीय पदार्थमें ठहर गया या उपयुक्त हो गया ।

भावार्थ-जैसे इन्द्रजालमें दिखलाए हुए पदार्थ एक खेल मात्र होते-उन पदार्थोंको कोई भी ग्रहण नहीं करता, सब तमाशा देखनेवाले जानते हैं कि यह सब वस्तुए जिनको इन्द्रजालिया दिखा रहा है मात्र देखनेहीके वास्ते हैं किन्तु ग्रहण करने योग्य नहीं है । इसीतरह यह जगत जो छः द्रव्योंका समुदाय है उसमें जीव और पुद्गल दो द्रव्य क्रियावान हैं । इनके निमित्तसे अनेक अवस्थाएँ दिखलाई दे रही है जैसे स्त्रीपुरुष, पशुपक्षी, वृक्षादि व मकान, वस्त्र, आभूषण, पर्वत, नदी, बाग आदि-वे सब अवस्थाए क्षणभंगुर हैं । नित्य बदलती रहती है । ज्ञानी अंतरात्मा योगी जिसने शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे पदार्थोंके देखनेका अभ्यास किया है इन सर्व अवस्थाओंको अस्थिर तथा मिटनेवाली जानकर इनमें बिलकुल भी उपादेय बुद्धि नहीं करता किन्तु इन सर्व अवस्थाओंको इन्द्रजालके भीतर दिखाए गए पदार्थोंके समान देखता है तथा उनमें उपादेय बुद्धि न करके हेय बुद्धि करके उनके साथ वैराग्य भाव भजता है और जिस आत्माके अनुभवसे परमानंद मई सुख व अविनाशी निजपद प्राप्त होता है उस स्वात्मानुभवकी सदा इच्छा किया करता है और ऐसा उद्यम भी करता है कि अपना उपयोग स्वात्म विचारमें ही तन्मय रक्खे । उसको स्वात्म विचारका ऐसा भाव हो जाता है कि प्रयोजनवश या पूर्वके अभ्याससे यदि मन वचन काय किसी अन्य कार्यमें

आत्म कार्यको छोड कर जाते हैं तो बड़ा पश्चाताप करता है कि मैं क्यों ऐसे स्थानमें उपयुक्त हो गया जहा मुझे स्वात्मानंद नहीं मिल रहा है प्रत्युत आकुलता और चिन्ता सतारही है। जब ऐसी अवस्था योगीके भावोंकी हो जाय तब समझना चाहिये कि योगीको स्वसंवेदन अच्छी तरह हो गया है और उसको निज आत्माके अनुभवका स्वाद आ गया है। जगतमें भी यह नियम है कि जिसको जिस बातकी गाढ रुचि पड जाती है वह हर समय उसी काममें रहना चाहता है, कारणवश किसी अन्य कार्यमें लगता है तो उसे बड़ा खेद होता है जैसे जिन बालकोंको खेलनेकी रुचि पड़ जाती है वे पढ़ते समय पछताते और जैसे छूटते हैं फिर खेलमें ही लग जाते है। जिनको जूएका व्यसन लग जाता वे धर्मकर्म भुलाकर उसीमें लग जाते हैं, जिनको व्यापारका बहुत शौक होजाता है वे रातदिन उसीके विचारमें रहते है अन्य विचारमें रहना सुहाता नहीं। ऐसी ही गाढ़ रुचि सम्यक्तो ज्ञानी आत्मानुभवीकी होजाती है कि वह हर समय आत्मानंदकी गरजसे आत्माका अनुभव ही करना चाहता है। अविरति, देशविरति, व विरति इन तीन अवस्थाओंके ज्ञानियोंके जितनी कषायकी कालिमा अधिक होती उतनी ही अधिक प्रवृत्ति आत्माके कार्य सिवाय अन्य व्यापारादि कार्योंमें करनी पड़ती। परंतु सर्व ही ज्ञानी अरुचिके साथ परकार्यको करते तथा निरंतर अपनी निंद्रा करते हुए यह भावना भाते कि कब वह समय आवे जब हम अप्रमत्त गुणस्थानमें तिष्ठकर बिलकुल ध्यानस्थ हो जावें और आहार, विहार, उपदेश आदिकी चिन्तासे भी निवृत्त हो

जावे। सम्यग्दृष्टीके तत्त्व रुचि ऐसी दृढ होती है जिससे वह आत्मानुभवके सिवाय अन्य कार्योंमें लाचारीवश कषायकी तीव्रतासे लगता है इसीसे उसके पश्चाताप हुआ करता है। जैसा कि समाधिशतकमें भी कहा है.—

आत्मज्ञानात् परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवसात्किंचित् वाक् कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

भाव यह है कि आत्मज्ञानसे अन्य कार्यको चिरकाल तक बुद्धिमें धारण न करे। यदि प्रयोजनवश कुछ करना भी पडे तो वचन कायसे उसमें मनको तल्लीन न करता हुआ करे। यह ज्ञानीका विचार होता है। ज्ञानी जीव इस जगतके खेलको सदा अनित्य विचार करता है। जैसा कहा है:—

भवत्येता लक्ष्माः कतिपय दिनान्येव सुखदा—।
स्तरुण्यस्तारुण्ये विदधाति मनः प्रीतिमतुलां।
तडिल्लोलाभोगावपुरविचलं व्याधिकलितं,
बुधाः संचित्येति प्रगुणमनसो ब्रह्माणि रताः ॥३३५॥

(सुभाषित०)

भाव यह है कि यह लक्ष्मी कुछ दिनों तक ही सुखदाई होती है। तरुण स्त्रियां यौवनमें ही चित्तको प्रीति बढाती हैं। यह भोग विजलीके समान चंचल अल्प सुखदाई है, तथा शरीर भी व्याधियोंसे भरा हुआ चंचल है—क्षणमें नष्ट हो सक्ता है। ऐसा विचार कर गुणवान व बुद्धिमान पुरुष इन सब नष्ट होनेवाले पदार्थोंसे मोह न कर अपने अविनाशी आत्मस्वभावमें ही प्रेम करते हैं।

दोहा:-इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात।
अन्य विषयमें जात यदि, ता मनमें पछतात ॥३९॥

उत्थानिका-और भी चिन्ह आत्मानुभवीके हैं सो जानो।

श्लोक-इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं॥४०॥

सामान्यार्थ-यह योगी मनुष्योंकी संगतिके अभावमें आदर करता हुआ एकांत बासको चाहता है। अपने प्रयोजन-वश कुछ कहना पड़े तो कहकर शीघ्र ही उसे भुला देता हैं।

विशेषार्थ-आत्मानुभवमें लीन योगी (निर्जन) मनुष्योंके अभावमें (जनितादर·) प्रयत्न करता हुआ अर्थात् अपने मतलबके वशसे लाभ अलाभ आदि प्रश्नके लिये लोगोंका आना न चाहता हुआ क्योंकि यदि वे आकर प्रश्न करेंगे तो उन मनुष्योंके मनको प्रसन्न करनेवाली चमत्काररूप व मंत्रयंत्र आदिके प्रयोगरूप बात करनी पडेगी ऐसा जानकर उनकी संगति न हो इस बातमें आदर करता हुआ (एकान्तसंवासं) स्वभावसे ही एकान्त निर्जन पर्वतके बन व गुफा आदिमें गुरु आदिके साथ वास करनेकी (इच्छति) इच्छा करता है। यह बात निश्चय है कि ध्यान कर-नेसे लोगोंको चमत्कार करनेवाले कारण व अतिशय पैदा होजाते हैं। ऐसा ही कहा है-

गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणा सौष्ठवाध्यानप्रत्ययानपि पश्यति॥"

भाव यह है कि गुरुके उपदेशको पाकर निरंतर जो आत्माका अच्छी तरह अभ्यास करता है उसकी धारणा जब श्रेष्ठ हो जाती है तब वह ध्यानके चमत्कारोंको भी देखता है।

तथा (निजकार्यवशात) अपने आत्मा सम्बन्धी व शरीर सम्बन्धी अवश्य करनेयोग्य भोजन आदि पराधीन कार्योंके वशसे (किंचित् उक्त्वा) कुछ थोडासा श्रावक आदिसे इस तरह उपदेश देकर अहो ऐसा करना चाहिये–अहो ऐसा करना चाहिये (द्रुत) उसी क्षण ही (विस्मरति) भुला देता है। फिर यदि कोई श्रावकादि प्रश्न करता है कि हे भगवन् आपने क्या उपदेश किया तो फिर कुछ भी उत्तर नहीं देता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें फिर भी आचार्य आत्मानुभवमें लीन योगीकी अवस्था बताते हैं कि जिसको आत्माके आनन्दके भोगकी रुचि बढ़ जाती है वह सदा एकांत निर्जन बन गुफा आदिमें ही रहना पसंद करता है जब तक एकाविहारी न हो तब तक अपने गुरुके साथ व अन्य मुनिके साथ व यथायोग्य किसी अन्य श्रावक आदि संयमीके साथ रहता है–वह मनुष्योंके सहवाससे इसी लिये अलग रहता है कि जगतके लोग अपने लौकिक कार्योंके लिये लाभ अलाभका प्रश्न करना चाहते हैं। यदि उनके साथ बात की जायगी तो उनको राजी रखनेके लिये मन्त्र यन्त्र आदि प्रयोग बताने पडेंगे। और जब उनके काम निकल जावेंगे तब वे और अधिक घेरेंगे जिसका फल यह होगा कि उसको आत्मध्यान करनेका ही अवसर न रहेगा तथा उपयोगमें लोगोंसे मिलनेकी व चमत्कार दिखानेकी लालसा बढ़ जायगी जिससे वह उल्टा संसारकी मायाजालमें फंस जायगा। और यह बात ठीक है कि जो कोई अच्छी तरह ध्यानका अभ्यास गुरुके बताए हुए मार्गके अनुसार करता है उसको धारणाकी उत्तमतासे

बहुतसे अतिशय व चमत्कार करनेकी शक्तियां पैदा होजाती हैं। इन ऋद्धि आदिसे जो ध्यानसे सिद्धि होजाती है योगीजन काम लेना नहीं चाहते क्योंकि ऐसा करनेसे फिर संसारके मोहमें पड़ना होगा। हां किसी समय कहीं कोई मुनि संघको व किसी नगर व देशको व कोई जनसमुदायको अतिदु:खी देखकर करुणाका भाव जग उठे तो लोगोंको विना बताए हुए अपने चमत्कार व ऋद्धिके बलसे उस दु:खके कारणोंको मेट देते हैं जैसे ऋद्धिधारी मुनिके दाहने स्कंधसे शुभ तैजसका शरीर आत्माके प्रदेशों सहित फैलकर विघ्न बाधाओंके कारणोंको मेट देता है। क्योंकि आत्मा एक बहुत सूक्ष्म पदार्थ है जब उपयोगमें और विकल्प जाल नहीं होते तब ही वह आत्मा अपने अनुभवमें आता है। इसीसे एकांतमें तिष्ठकर ही ध्यानका अभ्यास जमता है। ऐसा ही श्री समाधिशतकमें भी कहा है.–

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥ ७२ ॥

भाव यह है कि मनुष्योंके साथ बोलनेसे मनकी चचलता होगी जिससे चित्तमें विकल्प पैदा होंगे इसी लिये योगीको चाहिये कि मनुष्योंके साथ सम्बन्ध व मेलको छोड दे।

वास्तवमें योगी आत्मध्यानका प्रेमी हो जाता है–जिससे सदा एकातमें रहकर ही ध्यानका अभ्यास करता है। जब तक ऊंची अवस्था नहीं होती है तब तक योगी मुनिको भोजनके लिये नगरमें व ग्राममें जाना पडता है इस लिये श्रावकादिको धर्मका उपदेश व भोजनादिकी विधिका उपाय जैसा शास्त्रोंमें है

वैसा बताना पड़ता है-अथवा यदि अभ्यास करनेवाला गृहस्थ श्रावक स्वयं होता है तो उसे अपने व अपने कुटुम्बके लिये लौकिक कार्योंको भी करना पडता व कहना पड़ता तौ भी वह ऐसा वैराग्यभावमें आरूढ रहता है कि उस उपदेश आदिको करके व उस लौकिक कार्यको करके तुरत उसे दिलसे निकाल डालता है-व्यवहार धर्मोपदेश व अन्य लौकिक कार्योंमें रंजायमान नहीं होता है। जिस योगीकी दशा इस तरह आत्माके रसमें भीन जाती है वही योगी वास्तवमें आत्मानुभव करनेवाला है ऐसा भाव है।

दोहाः-निर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार।
निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस वार॥४०॥

उत्थानिका-और भी योगीकी अवस्था आचार्य कहते है-

श्लोक-**ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।**
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥४१॥

सामान्यार्थ-जिसने आत्मतत्त्वमें स्थिरता प्राप्त कर ली है वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, चलता हुआ भी नहीं चलता है तथा देखता हुआ भी नहीं देखता है।

विशेषार्थ-(स्थिरीकृतात्मतत्त्वः) जिस योगीने अपने आत्मस्वरूपको अपनी दृढ प्रतीतिमें धारण कर लिया है वह (ब्रुवन् अपि) पूर्व सस्कारके वशसे या परके आग्रहसे धर्म आदिका स्वरूप भाषते हुए भी (न हि ब्रूते) केवल योगसे ही नहीं रहता है किन्तु न बोलनेके समान रहता है क्योंकि योगीकी अपने आत्माके कार्यके सिवाय अन्य कार्योंमें सन्मुखताका अभाव होता है। कहा भी है:-

आत्मज्ञानात् परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवसात्किंचित् वाक् कायाभ्यामतत्परः॥

भाव यह है कि आत्मज्ञानके सिवाय दूसरे कार्यमें देर तक अपनी बुद्धिको न धारे। यदि प्रयोजन वश कुछ करना पडे तो उसमें तत्पर न होता हुआ वचन और कायोंसे ही उसे करे तथा (गच्छन्नपि) आहार आदिके लिये जाता हुआ भी (न गच्छति) न चलनेके समान है। और (पश्यन्नपि) सिद्ध प्रतिमा आदिको देखते हुए भी (न पश्यति तु) नहीं देखता ही है।

भावार्थ- जिस कार्यको इच्छा विना लाचारीसे करना पड़े उस कार्यको किसीने चाहकर किया ऐसा नहीं कहा जासक्ता। किसी मनुष्यको भोजनकी इच्छा न हो और कोई आग्रह बहुत करे तो वह कुछ भोजन कर तो लेता है परंतु उसे भोजन किया ऐसा वास्तवमें नहीं कह सक्के-इसी तरह आत्मानुभवी योगीकी इच्छा सिवाय आत्मानुभवके किसी अन्य कार्यमें नहीं होती है। इसी लिये यहां कहा है कि प्रयोजनवश इन्द्रियोंसे कुछ काम करना भी पडे तो वह न करनेके ही समान है। जैसे उपदेश देना पड़े व जाना पडे व देखना पड़े इत्यादि-इन सर्व आत्माके सिवाय अन्य कार्योंमें योगीकी तन्मयता नहीं होती। वह निरंतर आत्मरसका ही पान करना चाहता है परंतु कषायकी बरजोरीसे अन्य कार्य भी लाचारीसे करने पडते हैं, उन कार्योंको वह आत्मज्ञानी हेय बुद्धिसे करता है-उपादेय करने योग्य जानकर नहीं करता है। यही दशा जघन्य सम्यग्दृष्टी गृहस्थकी भी होती है। वह भी किसी कार्यमें प्रेमी नहीं होता है। वह भी आत्मानंदका ही

प्रेमी होता है। परतु अप्रत्याख्यानावरणी व प्रत्याख्यानावरणी कशायके उदयसे उसे हेय बुद्धिसे भी व्यापारादि व्यवहार कार्य करने पडते है तथा न्याय पूर्वक विषयभोग करने पड़ते है व शुभोपयोगके कार्य दान पूजा प्रभावना आदिके कार्य करने पडते है तौ भी वह उनका कर्त्ता व भोक्ता नहीं होता क्योंकि वह उनको चाह पूर्वक नहीं करता है। उसकी क्रिया उस मनुष्यके समान होती है जो किसी सम्बन्धीके पुत्रके विवाहकार्यमें शामिल होकर अपने सम्बन्धीके घरका कुल कामकाज करे परतु उस कार्यमें जिम्मेदारी व स्वामी पना उस मनुष्यका नहीं होता है किन्तु उस सम्बन्धीका ही स्वामी पना होता है जिसके पुत्रका विवाह है—लाभ हानिका जिम्मेदार वह घरका मालिक है। दूसरा कोई जो कुच्छ भी करता है उसमें यही समझता है कि यह सब काम मेरा नहीं है किन्तु इस सम्बन्धीका है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी जीव आत्मकार्यके सिवाय अन्य कार्यको करते हुए भी उसे मोहके उदयका कार्य समझते हैं— उस कार्यमें अपने कर्त्तापनेकी बुद्धि नहीं रखते। अतरगमें अत्यन्त उदास रहते हैं—

श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है:—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म।
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं॥
जानन् परं करणवेदनयोरभावा।
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥ ६ ॥

भाव यह है कि ज्ञानी न तो किसी कार्यको करता है न

कर्मको भोगता है, वह तो केवल मात्र अपने स्वभावको जानता है–कर्त्ता व भोक्तापनेसे रहित होता हुआ–केवल परको जानता हुआ तथा अपने शुद्ध स्वभावमें निश्चल रहता हुआ वह निश्चयसे मुक्त रूप ही रहता है अर्थात् आत्मानुभवको छोड़कर अपना सम्बन्ध किसी भी कार्यमें नहीं जोडता है।

श्री कुंदकुंद भगवान्‌ने भी श्री समयसारमें ऐसा ही कहा है–

सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि।
पगरणचेट्ठा कस्सावि णायपायरणोत्ति सो होदि ॥२०६॥

भाव यह है कि कोई भोगोंको सेवता हुआ भी नहीं सेवता है तथा कोई मिथ्यादृष्टी रागी न सेवता हुआ भी सेवक हो जाता है। किसीके तो विवाहादि प्रकरणकी चेष्टा है अर्थात् विवाहादिके कार्योंमें लगा हुआ है परंतु उस प्रकरणमें रागी नहीं है। दूसरा जो कुछ न करते हुए भी उस प्रकरणका स्वामी है वह उसमें रागी है।

युद्ध करना न चाहता हुआ एक सिपाही जो राजाकी आज्ञासे लड़ता है वह लडनेवाला नहीं है किंतु जो राजमहलमें बैठा है वह राजा ही वास्तवमें लडनेवाला है।

सम्यग्दृष्टीके कर्मके जोरसे विना अंतरंग चाहके भी क्रियाएं होजाती है परंतु वह ज्ञानी उनमें रागी नहीं होता है। ऐसा ही श्री पंचाध्यायीकारने कहा है–

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात्।
जगतोनिच्छितोप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥ २७०॥

भाव यह है कि यद्यपि सम्यग्दृष्टीके क्रियाए देखनेमें आती

हैं अर्थात् वह भोग उपभोगका सेवन करता है तो भी वह वीत-राग है क्योंकि उसके भोगोपभोगकी क्रिया मात्र देखी जाती है, चाहना नहीं है और चाहना नहीं होने पर भी उसे ऐसा करना पडता है। जैसे ससारमें कोई नहीं चाहता कि मेरे पास दरिद्रता आजाय अथवा मेरी मृत्यु हो जाय ऐसा न चाहने पर भी पापके उदयसे दारिद्र आता ही है और आयुकी क्षीणतासे मृत्यु आ जाती है। उसी प्रकार चारित्र मोहनीयके उदयसे सम्यग्दृष्टीको सांसारिक वासनाओंकी इच्छा न होने पर भी उसे पर कार्यके लिये बाध्य होना पड़ता है।

जिसके परिणामोंकी ऐसी दशा हो जावे कि वह अपने आत्मानुभवके सिवाय अन्य कार्योंमें रुचि न रखता हो उसे अव-श्य समझना चाहिये कि वह योगके मार्गमें आरूढ है।

दोहा-देखत भी देखत नहीं, बोलत बोलत नाहिं।
दृढ प्रतीति आतम भई, चालत चालत नाहिं॥ ४१॥

उत्थानिका-और भी योगीका लक्षण कहते है-

श्लोक-**किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।**
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः॥४२॥

सामान्यार्थ-योगमें लीन योगी यह आत्मतत्त्व क्या है, किस प्रकार है, किसका है व किससे हुआ है व कहां है इत्यादि विकल्प भावोंको नहीं चितवता हुआ अपने शरीरका भी ध्यान नहीं रखता है।

विशेषार्थ-(योगपरायण योगी) आत्माके साथ एकी-भाव रूप समरसी भावको प्राप्त हुआ योगी (इदं कि) यह अनु-

भवमें आनेवाला आत्मतत्त्व क्या स्वरूप रखता है (कीदृशं) किसके समान है (कस्य) कौन इसका स्वामी है (कस्मात्) किससे इसका प्रकाश हुआ है (क) किस आधारमें है (इति अविशेषयन्) इत्यादि विकल्पोंको नहीं करता हुआ (स्वदेहम् अपि) अपने शरीरका भी (अवैति) नहीं अनुभव करता है—नहीं उसकी चिन्ता करता है तो फिर देहके सिवाय अन्य हितकारी व अहितकारी वस्तुओंके अनुभव करनेकी क्या बात ! कहा भी है—

"तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥"

भाव यह है कि जब योगी अपनी आत्मामें ही लीन होकर अपनी-आत्माको ही ज्ञानद्वारा अनुभव करता है तब उसमें परम एकाग्रताके हो जानेसे बाहरी पदार्थोंके रहते हुए भी उसे कोई नहीं अनुभवमें आता है।

भावार्थ—उपयोगकी थिरता जिस तरफ हो जाती है उसी पदार्थका स्वाद आया करता है और जिस क्षणमें किसी पदार्थके भीतर उपयोग बिल्कुल तन्मय हो जाता है उस क्षणमें उसके लिये सर्व जगतके पदार्थ शून्यके सदृश हैं । सिवाय उसके जिसमें वह रीझ रहा है जैसे कोई मनुष्य किसी गानमें तन्मय हो रहता है उस समय उसके चित्तमें यदि वह राजा है और बहुत भारी प्रबन्ध उसके आधीन है तो भी वह सिवाय उस गानके स्वादके और तरफकी चिन्तासे बिलकुल खाली हो जाता है । इसी तरह कोई भोजनको बहुत ही एकताके साथ कर करके उसके स्वादको लेरहा है उस समय वह सर्व अन्य विकल्पोंसे

छूट जाता है । यही अवस्था आत्मामें उपयोग रमानेवाले ध्यानस्थ योगीकी होती है-जब स्वानुभवका उदय होता है-जब अपने तत्वमें तन्मय होकर उसके आनदका विलास करता है तब यह भी विकल्प नहीं उठता कि मैं कौन हू, किसका अनुभव करता हूं, व तत्त्व क्या है, किसके समान है आदि आदि । फिर वहां अपने शरीर व शरीरके लिये जो इष्ट अनिष्ट पदार्थ है उनका ध्यान कैसे रह सक्ता है ? जब तक एकाग्रता नहीं होती है और भावना मात्र होती है तब तो यह विचार होता है कि मेरा आत्मतत्त्व ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि अनतगुणोंका स्वामी है, तथा यह सिद्ध भगवानके समान है व इसका स्वामी यह आप ही है व इसका उदय आपसे ही है, यह किसीसे पैदा हुआ नहीं, कभी इसका नाश नहीं होगा-यह अनादि, अनंत, अखंड, अविनाशी पदार्थ है-इसका आधार आप ही है । यद्यपि मेरी देहमें विराजमान मेरे शरीरप्रमाण है तथापि इसका क्षेत्र इसके असंख्यात प्रदेश हैं तथा इस आत्माका स्वद्रव्य अनंतगुण पिंड है, इसका स्वक्षेत्र इसके असख्यात प्रदेश है, इसका स्वकाल इसके अनंत गुणोंकी समय २ होनेवाली परिणति है । इसका स्वभाव इसका ज्ञानदर्शनादि स्वरूप है व इसके अनत गुण हैं जिनका समुदाय यह आत्मा है तथा यह मेरा आत्मा परद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है अर्थात् मेरे आत्मद्रव्यमें अन्य अनत आत्माओंकी, सर्व पुद्गलोंकी, धर्मद्रव्य, आकाश तथा कालद्रव्यकी सत्ता नहीं है न मेरेमें आकाशके क्षेत्रकी सत्ता है व अन्य द्रव्योंके प्रदेशोंकी सत्ता है न मेरेमें अन्य द्रव्योंकी कोई परिणतिये है और न अन्य

सर्व द्रव्योंके कोई गुण हैं। मैं पूर्ण रूपसे अकिंचन् हूं, कोई वस्तु मेरी नहीं है, मैं हू सो मै ही हू। जो पर है सो परही है। मेरेमे पर नहीं, परमें मै नहीं। ऐसी मंद भावना करते करतें जब यकायक स्वरूपमें लय होजाता है तब जैसे गाढ नींदवालेको कुछ खबर नहीं रहती वैसे इस स्वरूप मग्नयोगीको कुछ खबर नहीं रहती। यहापर आचार्य इसी बातको दिखा रहे है कि वह सर्व चिन्ताके विकल्प जालसे मुक्त होजाता है।

श्री अमृतचंद्र महाराजने भी समयसार कलशमें यही भाव बताया है—

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृत सर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥४३॥
स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं
नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिस्समरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयास्यनुभूति-
मात्रम् ॥ ४५ ॥

भाव यह है कि जो अपनी आत्मामें सर्व शक्ति जिसकी संकोचकर एकत्र की गई हो ऐसे पूर्ण आत्माका धारण करना है वह मानो जो कुछ छोडने योग्य था उस सबको छोडदेना व जो कुछ ग्रहण करने योग्य था उस सबको ग्रहण करलेना है। इस तरह जो कोई अपनी इच्छासे उछलते हुए सर्व विकल्प जाल-रूपी बड़ी भारी नय पक्षोंकी कक्षाको उल्लघ जाता है व अतंरंग बहिरंग समता रसमई एक रस स्वभावरूप अपने एकी भावको जो केवल अनुभूति मात्र है उसको प्राप्त कर लेता है।

आत्मानुभवीकी ध्यानमई अवस्थामें कोई निश्चय नय या व्यवहार नयके भी विकल्प नहीं रहते। श्री अमृतचंद्र स्वामी कहते हैं—

य एव मुक्त्वा नय पक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्ते एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥३४॥
एकस्यानित्या न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युत पक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥३८॥

भाव यह है कि जो कोई भी नयोंके पक्षपातको छोडकर नित्य अपने स्वरूपमें गुप्त हो तन्मय होजाते हैं वे ही अपने मनको सर्व विकल्प जालोंसे रहित शांत करते हुए साक्षात् आनन्दामृतका पान करते है। एक नय कहती है कि आत्मा नित्य है दूसरी नय कहती है कि अनित्य है इस तरह द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनों नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्वज्ञानी पक्षपातोंको छोड़ देते हैं उसीके भीतर निश्चयसे अपना चेतनप्रभु चैतन्यमात्र ही नित्य अनुभवमें आता है।

दोहा:-क्या कैसा किसका किससे, कहा यह आतमराम।
तज विकल्प निज देह न जान, योगी निज विश्राम॥४२॥

उत्थानिका—अब शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! मुझे आश्चर्य है कि किस तरह ऐसी अवस्था होना संभव है। गुरु कहते हैं कि हे धीमान् समझ—

श्लोक-यो यत्र निवसन्नास्तं स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति॥४३॥

सामान्यार्थ-जो जहां रहता हुआ रहता है वह वहीं

प्रीति करता है। जहां वह रमजाता है उसको छोड़कर वह दूसरे स्थानमें नहीं जाता है।

विशेषार्थः-(यो) जो मनुष्य (यत्र) जिस नगर आदिमें अपने स्वार्थकी सिद्धिके निमित्त (निवसन् आस्ते) रहता हुआ जम जाता है (स·) वह मनुष्य (तत्र) अन्यस्थानसे चित्त हटाकर उसी स्थानमें (रतिं कुरुते) प्रीति करता है। (यः) जो (यत्र) जिस स्थानमें (रमते) रमजाता है (तस्मात् अन्यत्र) उसको छोड़कर दूसरे स्थानमें (स न गच्छति) वह नहीं जाता है यह बात प्रसिद्ध है इसलिये विश्वासकर कि अध्यात्ममें लीन योगीको वह अपूर्व आनद आता है जिसका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ था इस कारणसे वह आत्मानुभवी अपने आत्माको छोड़कर अन्य स्थानमें अपनी वृत्ति नहीं ले जाता है-आत्मा हीमें एकताको प्राप्त करता है।

भावार्थ-आचार्य बताते हैं कि योगीको आत्मध्यान करनेसे एक अपूर्व आनन्दका अनुभव होता है जो कि आत्माका ही स्वभाव है। इस आनंदके स्वादको जब इन्द्रिय जनित सुखके स्वादसे मिलान करता है तब उसको इन्द्रियसुख फीका मालूम पड़ता है। बस इस परमामृतमई- सुखकी चाह व रुचिमें अतिशय प्रेमी हो जाता है, क्योंकि यह सुख आत्मामें चित्त लगानेसे प्राप्त होता है इस लिये वह योगी बड़ी रुचिसे आत्मध्यान करता रहता है। और जब कहीं अलग भी हो जाता है तो भी उसके चित्तमें वही चाहना रहती है कि किस तरह आत्माका विलास करूं। लौकिकमें भी यह नियम है कि जिस मनुष्य या पशुकी जिस मकानमें

रहनेकी रुचि बढ़ जाती है वह उस स्थानको छोडकर जाना नहीं चाहता है-यह चित्त सदा सुखकी तलाश किया करता है। जबतक अतीन्द्रिय सुख नहीं पाता तबतक इन्द्रियसुखोंमें भी एक दूसरे सुखका मुकाबला किया करता है। जिस मिठाई व अन्नके खानेसे, जिस गानेके सुननेसे, जिस सुगंधके सुंघनेसे, जिस स्त्रीके स्पर्शसे जिस वस्तुके देखनेसे अधिक स्वाद आता है उसके वारवार भोग करनेकी इच्छा किया करता है और उस सुखको उससे अन्य वस्तुओंके भोगके सुखसे अच्छा जानता है। चित्तको मुकावला करना आता है। इसी तरह जब चित्तको स्वात्मजनित आनंदका स्वाद आता है तब इन्द्रियसुखके स्वादसे मिलाते हुए आत्मानंद विशेष व एक प्रकारका अनुपम आनंद देनेवाला मालूम होता है। क्योंकि इंद्रियसुखमें जब भोगनेसे मन थक जाता है तब वह पदार्थ बुरा मालूम होने लगता है। अतीन्द्रिय सुखको कितना ही भोगते जाओ आत्मा पदार्थ कभी भी अरुचिकर न होगा। इन्द्रिय सुखमें पराधीनता है। अतीन्द्रिय सुखमें स्वाधीनता है। इन्द्रियसुख आत्मबलको घटाता है जब कि अतीन्द्रिय सुख आत्मबलको बढाता है। इन्द्रिय सुखमें बहुतसी आकुलताएं रहती हैं अतीन्द्रिय सुख सर्वथा निराकुल है। इन्द्रिय सुखमें राग भावकी अधिकता होनेसे आगामी दुःखके कारण कर्मबंध होते हैं जबकि अतीन्द्रिय सुखमें वीतरागता होनेसे बंध न होकर पिछले बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होती है। इत्यादि बातोंको विचारकर व साक्षात् आनंदका लाभकर योगीकी गाढ़ रुचि स्वात्मसंवेदनमें होजाती है। और इन्द्रियसुखसे रुचि हट

जाती है। और जहां रुचि होती है वहीं मन जमने लगता है। समाधिशतकमें भी कहा है—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

भाव यह है जहां कहीं पुरुषकी बुद्धि गवाही देती है वहीं श्रद्धा जमजाती है तथा जहां भी रुचि स्थिर हो जाती है वहीं पर चित्त लय होजाता है।

मन तो तर्क करनेवाला है। यह अपने तर्कसे अधिक व बढ़िया सुखके स्थानको ही पसंद करता है।

समयसार कलशमें कहा है—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्ति वृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यान्तराण्य स्पृशन्।
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥४७॥

भाव यह है जो यह एक नियमित दर्शन ज्ञान चारित्ररूप मोक्षका मार्ग है उसीमें ही जो अपनी स्थिति करता है, जो रात दिन उसे ही ध्याता है व उसीका अनुभव करता व निरंतर अन्य द्रव्योंको न अनुभवता हुआ उसी आत्मतत्वमें विहार करता है वह नित्य उदयरूप आत्माके सारको शीघ्र ही अवश्य प्राप्त करलेता है। आत्मसुखकी विलासितामें जो लवलीन होता है वह अन्य विषयोंकी परवाह नहीं करता है।

सम्यग्दृष्टीका राग ही विषयोंके सुखसे हट जाता है। पंचाध्यायीकार कहते हैं—

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम्।
रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ॥२५९॥

भाव यह है कि सम्यग्दृष्टियोंका रागभाव इन्द्रिय विषयोंके सुखमें नहीं होता है क्योंकि वैषयिक राग अज्ञान भाव है सो मिथ्यादृष्टियों—अज्ञानियोंके ही पाया जाता है।

और भी कहते हैं:—

उपेक्षा सर्वभोगेषु सदृष्टेर्दृष्टरोगवत्।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥२६१॥

भाव यह है कि सम्यग्दृष्टीको प्रत्यक्षमें देखे हुए रोगकी तरह सम्पूर्ण भोगोंमें वैराग्य हो जाता है। सो इस अवस्थामें ऐसा होना स्वाभाविक है।

और भी कहा है कि सम्यग्दृष्टी इन्द्रियभोगोंको ऐसा समझता है:—

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥२५५॥

भाव यह है कि जो इन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुपी होते हैं उनके अंतरंगमें बहुत कठिन दाह हुआ करता है अर्थात् एक तरहकी असह्य तृष्णा अग्निकी जलन होती है—उसके विना कौन विषयोंमें रति करेगा! अर्थात् भीतरी इच्छाकी आगको शांत करनेके लिये ही दौडकर इन्द्रियोंके विषयोंको पकड़ता है। इस लिये यह बात सिद्ध है कि आत्मानुभवी अपने सुखसमुद्र आत्मामें सहज ही निवास करता है—

दोहाः—जो जामें बनता रहे, सो तामें रुचि पाय।
जो जामें रमजात है, सो ता तज नहिं जाय ॥४३॥

उत्थानिका-आचार्य कहते हैं कि योगीका भाव दूसरी तरफ न प्रवर्तता हुआ किस प्रकारका हो जाता है

श्लोक-अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्ध्यते न विमुच्यते ॥४४॥

सामान्यार्थ-योगी अपने स्वरूपसे बाहर न जाता हुआ देहादि पर वस्तुओंके विशेष स्वभावोंको ध्यानमें न लेता हुआ उनका अनुभव करनेवाला नहीं होता है। परपदार्थोंके अनुभव न करनेसे वह कर्मोंसे बधता नहीं किन्तु कर्मोंसे छूटता है।

विशेषार्थ-योगी (अगच्छन्) अपने आत्मतत्वमें लगा हुआ तथा आत्माको छोडकर अन्यमें नहीं प्रवर्तता हुआ (तद्विशेषाणाम्) अपनी आत्मासे अन्य देह आदिके विशेष स्वभावोंको यह सुन्दर है या असुन्दर हैं इत्यादि कल्पनाओंको (अनभिज्ञः जायते) नहीं अनुभव करता हुआ रहता है। (अज्ञाततद्विशेषः) उनके विशेष स्वभावोंको अनुभवता हुआ उनमें रागद्वेष न पैदा करता हुआ (न बद्ध्यते) कर्मोंसे नहीं बंधता है (मुच्यते) किन्तु व्रतादि अनुष्ठान करनेवालोंकी अपेक्षा अधिक कर्मोंसे छूटता है।

भावार्थ-यहां टीकाकारने तद्विशेषाणाम्का अर्थ देहादिके विशेष किये है परंतु यदि आत्माके विशेषोंको भी नहीं ध्यानमें लेता हुआ सामान्य एक आत्मतत्त्वका निर्विकल्प होकर अनुभव करता हुआ अर्थ किया जाय तो भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जहांतक आत्माके सम्बन्धमें भी विकल्प है वहातक पूर्ण एकाग्रता नहीं- जिस पूर्ण एकाग्रताके विना कर्म बन्धका छुटना और बन्ध न होना दुर्वार है। श्री देवसेनाचार्यने तत्त्वसारमें ऐसा कहा है--

जं पुण सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं ॥८॥

भाव यह है जो अपना तत्त्व निज आत्मा है वह सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार है। जहा सविकल्प है कि आत्मा ऐसा है ऐसा नहीं है वहा कर्मोंका आश्रव है तथा जहां संकल्प रहित-पना है वहीं पर कर्मोंका आश्रव नहीं है।

ऐसा ध्यानमें लेकर आचार्यके कहनेका यह भाव झलकता है कि जिस समय योगीका उपयोग अपने शुद्ध स्वभावमें तन्मय हो जाता है उस समय उस परिणाममें कोई प्रकारका विकल्प नहीं होता न वह आत्मा हीके विशेषणोंको चिन्तवन करता है और न देह आदिका ही विचार होता कि मैं हू या नहीं। निश्चल आत्माकी समाधिमें लीन होते हुए योगीका सर्वस्व अपने आपके ही स्वाद लेनेमें सल्ग्न हो जाता है। उस समय रागद्वेषकी बिल-कुल भी प्रगटता नहीं होती किंतु वीतरागता भले प्रकार छा जाती है। इस वीतरागताके प्रतापसे वहुत अधिक कर्मोंकी निर्जरा होती है। अबुद्धि पूर्वक यदि कुछ कषायांश होता है तो मंद स्थिति अनुभागको लिये कुछ वध होता है किंतु वधापेक्षा कर्मोंसे छूटना अधिक होता है जिसका फल यह होता है कि एकाग्रध्यानी एक दिन सर्व कर्म बन्धनोंसे छूटकर मुक्त हो जाता है।

जहां आत्माकी एकताका स्वाद आता है वहां चित् सामा-न्यका ही अनुभव होता है विषयोंका विचार नहीं रहता—इसी बातको स्वामी अमृतचंद्रजीने भी कहा है—

एक ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन् ।
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ॥
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं ।
सामान्यं कलयत्किलैषसकलं ज्ञानं नयत्येकतां ॥८॥

भाव यह है कि ज्ञातापनेके भावसे पूर्ण परम स्वादको लेता हुआ तथा दो वस्तुके मिले हुए स्वादके लेनेको असमर्थ होता हुआ केवल अपनी वस्तुके वर्तनको भोगता हुआ आत्मा अपने आत्माके अनुभवके प्रभावके वशीभूत होता हुआ सर्व विशेष विचारके उदयको हटाता हुआ, मात्र सामान्य आत्म-स्वभावका अभ्यास करता हुआ सर्व ज्ञानकी एकताको प्राप्त करता है, जहां ऐसा भाव होता है वहीं भाव निर्जरा होती है जिसके प्रतापसे कर्मोंके बन्धन गिर जाते है ।

स्वामी समतभद्रजी श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकरकी स्तुतिमें कहते हैं:-

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभव सौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये॥११५

भाव यह है किजिस भगवानने अर्थात् अपने अष्ट कर्म मल-रूपी कलंकको अनुपम योगके बलसे जला डाला है तथा आप अतींद्रिय व मोक्ष सुखके भोक्ता होगए सो आप मेरे भी ससारको शांत करो ।

दोहा:-वस्तु विशेष विकल्पको,-नहिं करता मतिमान् ।
स्वात्म निष्ठतासे छुटत, नहीं बधत गुणवान् ॥४४॥

उत्थानिका—आचार्य इसी योगाभ्यासकी ही प्रेरणा करते हैं:—

श्लोक-परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५

सामान्यार्थ-पर देहादि पर पदार्थ हैं, उनके द्वारा आत्माको दु ख ही है। आत्मा आत्मा रूप ही है उससे आत्माको सुख होता है। इसी लिये महात्मा लोगोंने इसी आत्माके अनुभवके वास्ते ही उद्यम किया है।

विशेषार्थ-(परः) शरीर आदि पदार्थ (परः एव) पर ही हैं उनको किसी भी तरह अपना नहीं किया जासक्ता है। जब ऐसा है तब उनको अपना मान लेनेसे (ततः दुःखम्) उनके निमित्तसे दुःख ही होता है क्योंकि जितने दुःखके कारण हैं वे सब उनहीके द्वारा सामने आजाते हैं। तथा (आत्मा आत्मा एव) अपना आत्मा आत्मारूप ही रहता है उसे कभी भी देह आदि स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती है। (ततः सुखं) जब ऐसा तब आत्मासे सुख ही होता है क्योंकि दुःखके कारणोंका आत्मा विषय ही नहीं है (अतएव) जब ऐसा है तब इसी लिये (महात्मानः) तीर्थंकरादि महापुरुषोंने (तन्निमित्त) आत्माके स्वभावमें रहनेके लिये (कृतोद्यमा.) नाना प्रकार तपादिका अनुष्ठान करके परिश्रम किया है।

भावार्थ-जहां आनंद होता है वहीं जीवकी प्रवृत्ति होती है व जिससे दु.ख मिलते है उसीसे मन हटता है। शरीर स्त्री पुत्र मित्र धन धान्य आदि सर्व आत्मासे पर पदार्थ है इनका द्रव्य क्षेत्र कालभाव अन्य है। आत्माका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अन्य है। उनका परिणमन उनमें है, आत्माका परिणमन आत्मामें है। शरीर आदिकी अवस्था वियोगके सन्मुख रहती है तथा सदा ही सुहावनी नहीं रहती इस लिये जो कोई

इन शरीर आदिको अपना मानकर उनके मोहमें अपने आत्माके स्वभावको भूल जाते है उनको अपनी इच्छाके अनुसार उन शरीरादिको परिणमावने, कायम रखने व उनसे अपने विषय भोग साधनेकी इच्छा होती है। परन्तु वे पदार्थ कभी तो कुछ अंशमें किसीकी इच्छानुसार प्रवर्तते, कभी नहीं प्रवर्तते अथवा यह उनका परिणमन जल्दी चाहता वे देरमें प्रवर्तते अथवा उनका एकदमसे वियोग हो जाता इस तरह अनेक आकुलताओंके कारण उस अज्ञानीके लिये उपस्थित हो जाते हैं जो इन शरीरादि परपदार्थोंको अपना बनानेके लिये अज्ञानमई भाव करते हैं।

रागद्वेषादिकी प्रवृत्ति भी परके साथ मोह करनेसे होती है जिससे कर्मोंका बन्ध पड़ जाता, जो भविष्यमें दु खोंकी प्राप्तिका कारण हो जाता है व जो संसारकी जन्म मरणरूपी अटवीमें भटकता है। इस लिये इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये कि पर पदार्थके मोहसे दु:खोंका ही लाभ होता है। तथा आत्माका स्वभाव आनंदमई है–इस लिये जो आत्माको परपदार्थोंसे भिन्न जानकर उसके शुद्ध स्वभावका अनुभव करते हैं उनको परमानदका स्वाद आता है–तथा वीतरागता रहनेसे कभी भी कोई आकुलताका सामना नहीं करना पड़ता है। और कर्मोंका भी बंध न होकर निर्जरा होती है। इसी ही लिये पूर्वकालके तीर्थंकर आदि महात्माओंने सर्व परकी चिंताको छोड़कर आत्मध्यानके ही लिये नाना प्रकार तप किये–उपसर्ग सहे तथा स्वसमाधिकी जागृति पाई–जिससे वर्तमानमें भी सुखी रहे और आगामी भी मुक्त होकर सदाके लिये परमसुखी हो गए–ऐसा ही श्री अमृतचन्द-

स्वामीने कहा है कि जो कर्मोदयसे उदास हो आत्मामें तृप्त होते हैं वे इस लोक व परलोक दोनोंमें आनंदका भोग करते हैं.—

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्व एव तृप्तः ॥
आपातकाल रमणीय मुदर्क रम्यं
निःकर्म शर्म भयमेति दशान्तरं सः ॥३९॥

भाव यह है कि जो कोई पूर्वमें रागद्वेषादि भावोंसे बन्धे हुए कर्मरूपी विष वृक्षोंके फलोंको अपने आत्माके स्वभावमें ही तृप्त रहता हुआ नहीं भोगता है वह महात्मा ऐसी दशाको पहुंच जाता है जिससे वह वीतराग आनंदको प्राप्त करता है जो यहा वर्तमान काल व पर्यायमें भी सुन्दर व उपादेय व सतोषप्रद अनुभवमें आता है और भविष्यमें भी ऐसा ही रमणीक अनुभवमें आवेगा तथा जिस आनन्दके भोगसे कर्मबंध कभी होता नहीं किन्तु इस शरीरमें रहते हुए कर्मोंकी निर्जरा अवश्य होती है।

ऐसा कहकर आचार्यने शिष्यको प्रेरणा की है कि तू भी और पर पदार्थोंकी चिन्ताको छोडदे और एक अपने आत्माके अनुभवकी ही फिककर और उसीके लिये पुरुषार्थ कर, उसीके लिये तप व्रत व श्रुतका अभ्यास कर। जैसा नेमिचंद स्वामीने द्रव्यसंग्रहमें कहा है.—

तवसुदवदवं चेदा, झाण रह धुरंधरो हवे जह्मा।
तह्मा तत्तिय णिरदो तल्लद्धीए सदा होहु ॥५७॥

भाव यह है कि क्योंकि तप, श्रुत व व्रत इन तिनोंका अभ्यास करनेवाला ही आत्मा ध्यानरूपी रथको चलानेवाला होसक्ता

है इस लिये उस ध्यानकी सिद्धिके लिये इन तीनोंमें ही सदा लगे रहो। इन्हींके अभ्याससे ध्यानकी सिद्धि होगी।

दोहा-पर पर ताते दुःख हो, निज निज ही सुखदाय।
महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय ॥४५॥

उत्थानिका-आगे आचार्य दिखलाते हैं कि परद्रव्यमें अनुराग करनेसे क्या२ दोष होता है—

श्लोक-अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनंदति तस्य तत्।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुंचति ॥४६

सामान्यार्थ-जो अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्यका सत्कार करता है उसका संग वह पुद्गल चारों गतियोंमें कभी भी नहीं छोड़ता है।

विशेषार्थ-(यः अविद्वान्) जो हेय तथा उपादेय तत्त्वों-के ज्ञानसे अजानकार है वह (पुद्गलद्रव्यं) शरीर आदि पर द्रव्यको (अभिनंदति) अपना ही मान लेता है तब (तत्) वह पुद्गल द्रव्य (तस्य जतो) उस जीवका (सामीप्य) सहवास या संयोग (चतुर्गतिषु) नारक आदि चारों ही गतियोंमे (जातु) कदाचित् भी (न मुचति) नही छोड़ता है।

भावार्थ-आचार्य दिखलाते है कि जो जिससे प्रीति करता है वह उसकी समीपताको नहीं त्यागता है। इसी नियमसे जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीव पुद्गल द्रव्यको अपना ही मानता हैं अर्थात् जिसके चित्तमें शरीर व इन्द्रियोंके विषय व उनसे उत्पन्न सुख उपादेय भासता है व जिसके चित्तमें यह भेद ज्ञान नहीं होता है कि रागादिक भावोंमें जो चैतन्य

अंश है वह तो मेरा है और जो कषायोंकी कलुषता है वह चारित्र मोहनी कर्मका अनुभाग है इससे पुद्गलमई मुझसे भिन्न है-व जो अपने आत्माको कर्मोसे बद्ध होनेपर भी उनसे जलमें कमलके समान अबद्ध नहीं मानता है, अनेक नर नारकादि पर्यायोंमें अन्य २ नाम धराए जानेपर भी मिट्टीके प्याले सकोरे आदि अनेक वर्तनोंमें मिट्टी ही है इसी तरह मैं वही आत्मा हूं ऐसा श्रद्धान नहीं करता है, मोह कर्मोंके उदयसे आकुलित होने पर भी पवन संचारके विना निस्तरंग समुद्रके समान मै अपने स्वभावमें निश्चल वीतराग हूं ऐसा नहीं जानता है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, अस्तित्व, वस्तुत्त्व आदि अनेक गुणोंके होनेपर भी जैसे पीतादि गुणोंसे सोना एक अखड तन्मय है वैसे मैं सामान्यपने एक अखड आत्मा हूं ऐसा नहीं प्रतीतिमें लाता है तथा कर्मोके सयोग होने पर यद्यपि रागद्वेष होते है तथापि जैसे उष्णताके सम्बन्धसे पानी गर्म हो जाता है तौभी पानीका स्वभाव शीतल ही है वैसे मेरा स्वभाव निश्चयसे रागद्वेष रहित है ऐसा जो नहीं विश्वास करता है वह आत्मतत्त्वके ज्ञानसे शून्य अज्ञानी वहिरात्मा मिथ्यादृष्टी है। उसका मोह पुद्गलसे कभी नहीं टूटता है चाहे वह ग्रहवास छोडकर मुनिलिंग भी धारण करे। इसी लिये वह अज्ञानी पुद्गल कर्मोका वध करता हुआ चारों गतियोंमें अपने पुण्य पापके अनुसार चक्कर लगाया करता है। उसका यह भ्रमण जब तक वह अज्ञानको न त्यागे तब तक कभी भी दूर नहीं हो सक्ता है। उसके परिणामोंमें जो मोहकी डोरी है वह उसको संसारमें घसींटे फिरती है। कभी भी वह पुद्गलसे छूटकर मुक्त

नहीं हो सका।

समाधिशतकमें भी आचार्यने यही भाव इस तरह दिखाया है—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

भाव यह है कि इस शरीरमें आत्माकी भावना अन्य अन्य देहको पानेका बीज है वैसे ही आत्मामें ही आत्माकी भावना शरीर रहित हो जानेका बीज है।

संसारकी चारों गतियोंमें जीवको महान कष्ट व आकुलताएं भोगनी पडती है तथा आत्माको कर्मोंकी परतन्त्रतासे अनेक विघ्न सहने पडते हैं—इच्छित विषय भोग नहीं मिलते हैं तथा यदि मिलते भी हैं तो स्थिर नहीं रहते तथा अनेक प्रयत्न किये जाने पर जो चेतन व अचेतन वस्तु इकट्ठो की जाती है उसका यका-यक वियोग हो जाता है— तृष्णाका समुद्र कभी भी वस्तु समागम रूपी नदियोंसे तृप्त होता नहीं—ऐसे संसारमें अज्ञानी जीव पुद्गलके मोहके कारण भ्रमण करता हुआ कभी भी अपनी उस स्वाधीन सम्पत्तिका स्वामी नहीं होता है जो इसीके पास है व जिसे यह हर समय लिये हुए फिरा करता है। परन्तु पहचानता नहीं। वास्तवमें अज्ञान ही महान् दुःखोंका कारण है। श्री अमृतचंद स्वामीने भी अज्ञानीकी दशाको इस तरह बताया है:—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदीयतृत्ववत्।
अज्ञादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः ॥२॥

भावार्थ-इस आत्माका स्वभाव रागादिके कर्तापनेका नहीं है जैसे इसका स्वभाव अशुद्ध भावोंके भोक्तापनेका नहीं है।

अज्ञानसे ही यह अपनेको परभावोंका कर्त्ता मान लेता है। अज्ञानके अभावमें कर्त्ता नहीं रहता।

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः।
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरित भुवनाभोगभवनः॥
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः।
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥ ३॥

भाव यह है कि यह जीव वास्तवमें अकर्ता है। यह अपने स्वभावसे शुद्ध है। अपनी स्फुरायमान ज्ञान ज्योतिसे लोकालोकको जाननेवाला है तथापि इसके जो यह कर्म प्रकृतियोंका बंध होजाता है सो इसके भीतर कोई बडी भयानक अज्ञानकी महिमा ही प्रगट हो रही है।

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको।
ज्ञानी तु प्रकृति स्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां।
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिना॥ ५॥

भाव यह है कि अज्ञानी कर्मोंकी प्रकृतिके स्वभावमें लवलीन होकर नित्य सुख दुःखका भोक्ता हो जाता है जब कि तत्त्वज्ञानी कर्मोंके स्वभावसे विरक्त रहता हुआ कभी भी अपनेको कर्मोंके फलका भोगनेवाला नहीं जानता है ऐसा नियम जानकर चतुर पुरुषोंको चाहिये कि वे अज्ञानभावको त्याग देवें तथा शुद्ध एक आत्म स्वभाव मई ज्ञान ज्योतिके तेजमें निश्चल रहते हुए सम्यग्ज्ञानपनेकी ही सेवा करें।

अज्ञान ही संसारका कारण है जब कि तत्त्वज्ञान ही संसारके नाशका उपाय है।

श्री देवसेन आचार्यने तत्त्वसारमें कहा है:-

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥ ३३ ॥
परदव्वं देहाई कुणइ ममत्तिं च जाम तस्सुवरिं ।
परसमयरदो तावं वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ३४ ॥
रूसइ तूसइ णिच्चं इंदियविसयेहि संगओ मूढो ।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥ ३५ ॥

भाव यह है कि जबतक पर द्रव्यके मोहमें चित्त लगा हुआ है तबतक भव्य जीव कठिन २ तप करते हुए भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सक्ता है, जब कि शुद्ध भावोंके होनेपर शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है । पर द्रव्य देह आदि हैं जब तक इनके ऊपर ममत्त्व करता है तबतक पर समय अर्थात पर तत्वमें लीन है और इसीलिये नाना प्रकारके कर्मोंमे बंधता है । मूर्ख अज्ञानी कषायवान मिथ्यादृष्टी जीव सदा इन्द्रियोंके पदार्थोंमे यदि मनोज्ञ हुए तो प्रसन्नता यदि अमनोज्ञ हुए तो अप्रसन्नता बताता रहता है । ज्ञानी इससे विपरीत वर्तन करता है । ज्ञानी विषयोमें रागद्वेष न करके उन्हें पर जान अपने आत्मस्वभावके भोगमें ही तृप्ति मानता है । इसलिये अज्ञानी ही संसारमें दुःखोंका पात्र होता है । अतएव पर द्रव्यका मोह त्यागने योग्य है ।

दोहा:-पुद्गलको निज जानकर, अज्ञानी रम जाय ।
चहुंगतिमें ता संगको, पुद्गल नहीं तजाय ॥ ४६ ॥

उत्थानिका-आगे शिष्य प्रश्न करता है कि जो अपने आत्माके स्वरूपमें लवलीन होता है उसको क्या फल प्राप्त होता है.-गुरु उसका उत्तर कहते हैं:-

श्लोक-आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

सामान्यार्थ-जो अपने आत्माके ध्यानमें लीन होता है और व्यवहारसे बाहर रहता है उस योगीके योगके बलसे कोई एक परमानद पैदा होता है ।

विशेषार्थ-(आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य) देहादिसे हट करके अपने आत्मामें ही अपने आपको स्थापित करने वाले तथा (व्यवहारबहिःस्थितेः) प्रवृत्ति व निवृत्ति लक्षण व्यवहारके बाहर रहनेवाले (योगिनः) ध्याता योगीके (योगेन) अपने आत्म-ध्यानके कारणसे (कश्चित) कोई एक वचनोंसे अगोचर (परमानंदः) उत्कृष्ट अन्य द्रव्यसे न पैदा होने वाला स्वाधीन आनन्द (जायते) पैदा होता है ।

भावार्थ-यहां पर आचार्य दिखलाते हैं कि जब ध्यान करने वालेके विकल्पोंका त्याग हो जाता है अर्थात यह छोड़ना यह ग्रहण करना यह बुद्धि भी नहीं रहती है-केवल आत्मा आप अपनेमें ही लवलीन हो जाता है उस समय आत्माका अनुभव होता है और तब ही एक ऐसे आनदका स्वाद आता है जो स्वाधीन है, अतींद्रिय है, तथा परम निराकुलता प्रद है और वचनोंसे अगोचर है । आनन्द आत्माका स्वभाव है-गुण है सो जब उपयोग परको त्यागकर अपने उपयोगवान आत्मामें सन्मुखता करता है तब नियमसे उस आनन्द गुणका अनुभव होता है । यह सुख इन्द्रियोंके सुखके स्वादसे विलक्षण है । यह आनन्द निर्मल है तथा परम तृप्तिको देनेवाला है । सिद्ध परमात्माको जो

निरंतर अनुभवमें आता है उसीकी जातिका यह सुख है। इसका वर्णन मुखसे हो नहीं सक्ता है। वास्तवमें कोई भी स्वादका वर्णन नहीं हो सक्ता है। एक मनुष्यने बहुत मिष्ट बरफी पेडा खाया है वह यह तो कह सक्ता है कि बहुत स्वाद पाया परन्तु किस जातिका वह स्वाद था इसको नहीं बता सक्ता है इसी तरह आत्माको अपने स्वभावको भोगते हुए जो आनंद रूपी अमृतका स्वाद आता है उसको भी वह विकल्प अवस्थामें नहीं कह सक्ता है।

श्री समाधिशतकमें भी कहा है:—

सुखमारब्ध योगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

भाव यह है कि योगाभ्यासके प्रारम्भ करनेवालेको जबतक चित्त स्वात्मामें लय नहीं होता है आत्मासे बाहर सुख व आत्मामें कष्ट मालूम पडता है परन्तु जब आत्माकी भावना करते २ बहुत अभ्यास हो जाता है और चित्त आत्माके स्वरूपमें एकाग्र हो जाता है तो आत्मीक आनंदका स्वाद आता है फिर अत्मासे बाहर रहनेमें आकुलता रूप दुःख भासता है। यही बात श्री देवसेन आचार्यने तत्त्वसारमें बताई है:—

उभयविणट्ठेभावे णियउवलद्धेसुसुद्धससरूवे।
विलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए ॥ ५८ ॥

भाव यह है कि रागद्वेषोंके नष्ट होने पर तथा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपके लाभ हो जानेपर योगीको योग शक्तिके द्वारा परम आनंदका लाभ होता है।

श्री नागसेन मुनिने भी तत्त्वानुशासनमें कहा है.—

आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरं।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥२४२॥
यत्तु संसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतं।
स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासंतापकारणं ॥२४३॥
मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबंधनं।
दुःखकारणबंधस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥ २४४ ॥
यदत्र चाक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां ॥ २४६ ॥

भाव यह है कि जो मोक्षका अतींद्रिय सुख है वह आत्माके ही आधीन है, बाधा रहित है, अविनाशी है तथा घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है। तथा जो ससारिक इन्द्रिय जनित सुख है वह राग रूप है, क्षणिक है, अपने व पर द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न है तथा तृष्णा और सतापको बढानेका कारण है। मोह द्वेष, क्रोध, मद, माया, लोभके कारणसे होनेवाला सुख दु खोंका मूल कारण जो पाप बध उसका कारण होनेसे दुःख रूप ही है। इस ससारमें जो चक्रवर्तियोंको सुख है व जो सुख स्वर्गके देवोंको है वह परमात्माके अतीद्रिय सुखके रच मात्रके भी बराबर नहीं है।

वास्तवमें आत्म ध्यानीके जो एक समय मात्रके स्वात्म-भोगके करनेसे सुख होता है उस सुखकी तुलना चक्रवर्तीके सर्व जन्मके सुखसे भी नहीं हो सक्ती है। ऐसा अपूर्व सुख योगीको योगबलसे स्वादमें आता है।

दोहा:-ग्रहण त्यागसे शून्य जो, निज आतम लवलीन।
योगीको हो ध्यानसे, कोइ परमानद नवीन ॥

उत्थानिका-आगे गुरु बताते हैं कि उस आनंदके स्वाद आनेका कार्य या फल क्या होता है:—

श्लोक-**आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतं।**
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८

सामान्यार्थ-यह आत्मानन्द निरतर कर्म रूपी इंधनको बहुत अधिक जलाता रहता है तथा वह ध्यानाविष्ट योगी बाहरके दुःखोंमें अनुभव न लेता हुआ उनसे कुछ भी खेदको प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ-(आनंद) वह आत्मध्यान जनित आनन्द (अनारतं) निरंतर (उद्धं) बहुत अधिक (कर्मेंधन) कर्मोंकी संततिको जैसे अग्नि इंधनको जलाती है इस तरह (निर्दहति) जला देता है (च) और (असौ योगी) यह आनंद मग्न योगी (वहिर्दुःखेषु अचेतनः) बाहर प्रगट होनेवाले परीषह तथा उपसर्गके क्लेशोंका अनुभव न करता हुआ (न खिद्यते) नहीं खेदको या सक्लेश भावको प्राप्त होता है।

भावार्थ-आत्मानदके अनुभवका फल यह है कि उसके होते हुए पूर्व बद्ध कर्म्म अपने विपाक कालसे बहुत पहिले ही आत्माकी सत्ताको छोडकर झड जाते हैं, वास्तवमें स्व आनंदका अनुभव ही ध्यान है-यही तप है जहांपर किसी भी पर पदार्थकी इच्छा नहीं होती है और इसीलिये यह निर्जराका कारण है।

क्योंकि सिद्धातमें कहा है 'तपसा निर्जरा च' अर्थात् तपसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। वह तप यह आत्म–ध्यान ही है। इस आत्म ध्यानमें एकाग्रता यदि किसी योगीको अंतर्मुहूर्तके लिये भी हो जावे तो तुर्त क्षपक श्रेणीमें परिणाम आरुढ़ हो जाते हैं जिससे मोहनीका नाश करके शीघ्र ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावर्णीय तथा अंतरायका नाश करके केवलज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग हो जाता है। इस आत्म ध्यानसे उत्पन्न आनंद जितनी देरतक जागृत रहता है उतनी देरतक विशेष वीतरागता रूप चारित्रका राज्य होनेसे अधिक कर्मोंकी निर्जरा होती है। इसी स्वरूपानंदके प्रतापसे ही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव अवश्य अपने कर्मके भारको हलका करता हुआ एक दिन सर्व कर्मोंसे छूटकर मुक्त हो जाता है। शुक्ल ध्यानसे ही सर्व कर्म झडते हैं वह शुक्लध्यान निर्मल आत्मामें परम एकाग्रता स्वरूप है तथा परमानंद मई है–इस आत्म ध्यानी को जो निज आत्माके स्वादमें मग्नता होती है उसके प्रतापसे बाहर शरीर पर होनेवाले परीषह व उपसर्गोंको वह ध्यानी बिलकुल अनुभव ही नहीं करता है–यदि कदाचित् मन विचलित हो जाता है तो भेद ज्ञानके प्रतापसे उन सर्व कर्मोंको व कर्मके फलोंको अपने स्वरूपसे भिन्न जानकर कुछ भी खेद व कष्ट नहीं मालूम करता है। और तब निज स्वरूपमें विशेष तन्मयता हो जाती है प्रत्युत ध्यानकी एकाग्रता बढ़ जाती है जिससे योगी शीघ्र ही कर्मके पींजरेको तोड डालता है और स्वाधीन हो जाता है। योगीके ध्यानमें तन्मयता पानेका यही चिह्न है जो उसको अतींद्रिय सुखका स्वाद आवे।

जैसे अग्नि जलती हुई काठको जलाती है, भोजनको पकाकर स्वादिष्ट बनाती है तथा अंधकारको दूर करती है वैसे ही आत्मानुभूति रूपी अग्नि कर्मोंके ईंधनको जला देती है, आत्माको परमानंदका स्वाद देती है तथा अज्ञानको नष्टकर ज्ञान ज्योतिकी वृद्धि करती है। यहांपर आचार्यने साक्षात् आत्म ध्यानका फल परमानंदका चिरकाल तक विना किसी बाधाके भोगना और उससे कर्मोंकी निर्जरा होना बताया है। यही स्वरूपमें तल्लीनता होना मोक्षका भी कारण है—इसी उपायसे आत्मा सर्व कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाता है। जैसा श्री अमृतचंदजीने समयसारके कलशमें कहा है:—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं ।
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ॥
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल—
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धोभवन्मुच्यते ॥ १२ ॥

भाव यह है कि अशुद्धताके कारण सर्व पर द्रव्यको अपने आप ही त्याग करके जो कोई सर्व अपराधोंसे छूटकर अपने निज आत्म द्रव्यमें ही निरंतर प्रीति या रमन करता है वह कर्म बंधका नाश करके नित्य उदय रूप, तथा अपनी आत्म ज्योतिके द्वारा परम निर्मल उछलते हुए चैतन्य मई अमृतसे परिपूर्ण महिमावान होकर शुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है।

श्रीतत्वसारमें भी कहा है:—

दिट्ठे विमलसहावे णिय तच्चे इंदियत्थपरिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुडं अमाणसत्तं खणद्धेण ॥ ४२ ॥

जो अप्पाणं झायदि संवेयणचेयणाइउवजुत्तं।
सो हवइ वीयराओ णिम्मलरयणप्पओ साहु ॥ ४४ ॥

भाव यह है कि इन्द्रियोंके विषयोंसे छूट जानेपर तथा निर्मल स्वभाव निज आत्मतत्वके अनुभव हो जानेपर योगीके आधे क्षणमें परमात्मपना प्राप्त हो जाता है जो कोई स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे ध्याता है सो साहु निर्मल रत्नत्रयको पाता हुआ वीतरागी हो जाता है।

तात्पर्य यही है कि स्वस्मानदके मार्गसे ही कर्म बंधन कटते है और आत्मा स्वाधीन होकर सदाके लिये स्वरूपका भोगी तथा परम सुखी हो जाता है।

दोहा:-निजानद नित दहत है, कर्मकाष्ट अधिकाय।
बाह्य दुःख नहिं वेदता, योगी खेद न पाय ॥४८॥

उत्थानिका-आगे गुरु शिष्यको परम उपदेश करते हैं:-

श्लोक-अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

सामान्यार्थ-वह आत्माकी महान और उत्कृष्ट ज्ञानमय ज्योति अज्ञानसे बिलकुल दूर है-मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको उसी आत्माकी ज्योतिके सम्बन्धमें प्रश्न करते, उससे ही प्रेम करते, व उसे ही अनुभव करते रहना चाहिये।

विशेषार्थ-(मुमुक्षुभिः) कर्मोंके बंधनसे छूटकर स्वाधीनता चाहने वाले पुरुषोंको (तत्) उस आनदमई स्वभाव धारी (परं) उत्कृष्ट और (महत्) इन्द्रादिकोंसे पूज्य तथा (अविद्याभिदुर)

अज्ञानको छेदनेवाली (ज्योतिः) व स्व परको प्रकाश करनेवाली आत्माकी ज्योति (प्रष्टव्यं)के सम्बन्धमें गुरु आदिकोंसे प्रश्न करना चाहिये, (तत् इष्टव्यं) तथा उसीकी ही अभिलाषा करनी चाहिये, (तत् द्रष्टव्यं) और उसीका ही अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ-अतमें आचार्यने उपदेश दिया है कि जो कोई स्वाधीन होकर जन्म जरा मरणादिके कष्टोंको मेटना चाहें और अनन्त और अव्यवाध सुखको प्राप्त करना चाहें उनको उस आत्माके स्वभावका ही विचार करना चाहिये जो स्वभाव परमानंद मई है, अज्ञानकी कालिमाको छेदनेवाला अथवा अज्ञानके अंधकारसे शून्य है, जगतमें एक उत्कृष्टसार तत्व है तथा इन्द्रादि व साधुजनोंसे परम पूज्यनीय महिमाको प्राप्त है और उसी ही आत्म स्वभाव रूप परिणतिमें रमन करनेकी गाढ भावना करनी चाहिये तथा उसीमें ही लौलीन होकर उसीका आनन्द भोगना चाहिये। जगतमें यदि कोई सार तत्व है तो वह आत्मतत्व है। इस आत्मतत्वमें कोई क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंके विकार नहीं हैं। यह आत्मतत्व अत्यन्त निर्मल है जिसमें त्रिकालकी लोकाकाश व अलोकाकाशके सर्व द्रव्योंकी पर्यायें एक समयमें विना किसी क्रमके झलकती हैं, इस आत्मतत्वमें कोई आकुलता नहीं है, इसमें पूर्ण शांति है तथा यह तत्व पूर्ण आनन्दका सागर है।

इस आत्मतत्वकी वात करने, चर्चा करने व इसकी इच्छा करने मात्र हीसे चित्तको उसी समय एक अपूर्व शांति मिलती है फिर जो कोई इस आत्मतत्वका अनुभव करे उसके आनन्द भोगकी बातको कौन कह सक्ता है। वह अनुभव करनेवाला वैसा ही

सुखी हो जाता है जैसे सिद्ध परमात्मा। वास्तवमें यथार्थ शुद्ध आत्माके स्वभावका अभेद रत्नत्रय मई सामायिकके द्वारा अनुभव करना ही धर्म है, या मोक्ष-मार्ग है। इसी हीके प्रतापसे जबतक मोक्ष न हो तबतक नीचे लिखे लाभ होते रहते हैं.-

(१) शुद्ध स्वभावके भोगसे परमानन्दकी प्राप्ति-जो सुख शांति स्वात्मानुभवसे मिलती है उसकी तुलनाके लिये जगतमें कोई पदार्थ नहीं है-सर्व दुःख और अकुलताएं इस आनन्दसे आते ही मिट जाती हैं।

(२) आत्मानुभवके द्वारा अंतराय कर्मका क्षयोपशम तथा कषायोंकी मंदता हो जाती है इससे आत्मबल व उपशम भाव जागृत होता हुआ बढता रहता है। यह आत्मबल शारीरिक, वाचिक, मानसिक आदि सर्व बलोंमें प्रधान है।

(३) आत्मानन्दके स्वादलेते हुए जो वीतरागताके अंश होते हैं उनके प्रतापसे पूर्व बद्ध पाप कर्मोंका रस सूख जाता है अथवा पाप कर्म पुण्य कर्ममें बदल जाता है तथा पुण्य कर्ममें रस बढ़ जाता है जिसका प्रगट फल यह होता है कि वर्तमान जीवनमें आनेवाले दुःख कम हो जाते व सुखके सामान बढ़ जाते हैं। असाताके सामान घटते और साताके बढ़ते हैं।

(४) आत्मानुभवी पुरुषको यदि यकायक कोई संकट आजाता है-मरी, दुष्काल, वज्र पातादि तो उस समय वह परम धैर्यको रखकर निर्भय रहता हुआ उस आपत्तिको शरीर पर पड़ती हुई मानकर निराकुलताको नहीं त्यागता है-संकटोंको कर्म कृत कार्य मानकर समभावमें जागता रहता है।

(९) वर्तमान आयुके समाप्त होनेपर दूसरा शरीर उत्तम पाता है जहांपर पुण्योदयसे साताके सम्बन्ध अधिक होते हैं ।

जैसे कोई मनुष्य राज्यमहलमें जाता है तो उसको मार्गमें निराकुलताके ही सामान मिलते हैं-जैसे छायादार वृक्ष, निर्मल जल, योग्य विश्रामके स्थान, अनुकूल सुगंधित पवन, मनोहर दृश्य, वैसे मोक्ष महलमें जाते हुए मुमुक्षु जीवको भी जब तक वहां न पहुचे सर्व साताकारी सबध ही मिलते रहते है वह कभी नरक या पशुगतिमें नहीं जाता है, देव या मनुष्य होता रहता है । और धीरे १ आत्मोन्नतिमें बढ़ता रहता है । इस आत्मतत्वके विचारमें न तो कुछ खर्च है न कुछ खेद है न कुछ व्याकुलता है-इस तत्त्वके विचारमें सदा ही आनन्द ही आनद है । इसीलिये महान आत्माओंको इसीके ही विचारमें लवलीन रहना चाहिये ।

समाधिशतकमें भी कहा है:—

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वाविद्यामयं व्रजेत् ॥ ५३ ॥

भाव यह है उस आत्म तत्त्वकी ही बात करो, उसीका ही दूसरेसे प्रश्न करो, उसीकी ही चाह करो व उसीमें ही तल्लीन हो । यह काम उस समय तक बराबर करते रहो जबतक कि अज्ञान मई स्वभाव मिटकर ज्ञानमई स्वभाव न हो जावे ।

श्री समयसार कलशमें स्वामी अमृतचंदजी कहते हैं:-

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्य मत्ताः ।
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुद्ध्यध्वमन्धाः ॥

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्य धातुः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायि भावत्वमेति ॥ ६ ॥

भाव यह है कि अनादिकालके संसारसे जिस सांसारिक पदमें ये रागी जीव नित्य उत्पन्न होते आरहे है, व जिसमें पडे हुए सो रहे हैं उस पदको हे अंधपुरुषों! अपना पद बिलकुल न जानो। इधर आओ और उस पदको देखो जहांपर चैतन्य धातुमई आत्मा परम शुद्ध स्वभावमें अपने आत्मीक रसके भारसे भरा हुआ परम स्थितिको प्राप्त हो रहा है। अर्थात् अपने आत्माके निराकुल आनन्दमई स्वभावका अनुभव करो जहां कर्मजनित आकुलताके पदोंमें व्याकुल हो रहे हो!

दोहा:—पूज्य अविद्या दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार।
मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥ ४९ ॥

उत्थानिका—इस प्रकार जैसा कि ऊपर व्याख्यान है शिष्यको विस्तारसे समझा करके कहे हुए तत्वको संकोच करके उस शिष्यके मनमें स्थापित करनेके इच्छुक आचार्य शिष्यको इस तरह कहते है कि हे सुमते! हेय उपादेय तत्त्वको बहुत अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन! बुद्धिमानके हृदयमें इसे संक्षेपमें ही बिठाया जा सक्ता है सो इस तरह जानना—

श्लोक—जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०

सामान्यार्थ—जीव अन्य है पुद्गल अन्य है यही इस तत्त्व कथनका संक्षेप है—इसके सिवाय और जो कुछ कहा जाता है सो इसीका ही विस्तार हो सक्ता है।

विशेषार्थ-(जीव अन्य) जीव देहादिसे भिन्न है (च पुद्गल. अन्य·) और देहादि पुद्गल जीवसे भिन्न हैं (इति) इतना ही (असौ) यह (तत्व सग्रह.) आत्माके तत्त्वका जो कि सत्यार्थ तत्त्व है संक्षेपसे निर्णय है (यत् किंचित् अन्यत्) जो कुछ भी इस तत्त्व सग्रहसे अधिक (उच्यते) भेद प्रभेदादिसे विस्तारसे सुननेकी रुचि वाले शिष्यके लिये कहा जाता है (स-तस्य एव विस्तर) वह उसीका ही फैलाव है। उस विस्तारको भी हम उसी तरह श्रद्धामें रखते हैं।

भावार्थ—आचार्य ग्रंथको समाप्त करते हुए सर्व ग्रंथका भाव सक्षेपमें यह बताते है कि इस जगतमें जीव तथा पुद्गलकी अनादि कालसे क्षीर नीरवत् सगति हो रही जिससे शुद्ध जीवका वास्तविक स्वरूप इस ससारी जीवकी श्रद्धा व बुद्धिसे हट गया है। इसी अज्ञानसे यह अज्ञानी जीव पुद्गलकृत अवस्थाओंमें अर्थात् रागादि भावोंमें व शरीरमें व उसके आश्रित इन्द्रियोंके विषयोंमें व उनके सहकारी स्त्री पुत्रादि चेतन व धन धान्यादि अचेतन तथा चेतन अचेतन मिश्रित नगर ग्राम घर आदिमें गाढ मोही हो रहा है, उनके सयोगसे हर्ष व वियोगमें विषाद करता है। तथा उनके संयोगके लिये नाना प्रकार लोभ व मायाके षड्यन्त्रोंसे काम लेता है तथा उनके संयोगमें जो बाधा देते हैं उनपर क्रोध करता है, द्वेष करता है और उनके नाशका दृढ उद्योग करता है तथा इच्छित संयोग पाकर मानके पर्वतपर आरूढ़ हो अन्योंको तुच्छ देखता है। इसने अज्ञान भावसे ही विषय वासनाको ही सुख मान लिया है और जो

सुख शुद्ध स्वभाव रूप अपने ही आत्माका स्वाभाविक गुण है उसको नहीं पहचाना है। इस अनादि अज्ञानसे प्राप्त अनेक चतुर्गतिके दुःखोंसे संतापित, आकुलित व अपमानित आत्माको दुःखी देख करुणासागर श्री पूज्यपाद महाराजने आत्मीक सुख रूपी शांतिमई उपवनमें भेजनेका उपाय सोचकर इस जीवकी ज्ञानकी आखें खोली हैं और यह बतलाया है कि जिसे आत्मा कहते हैं वह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, तथा अन्य आत्माओंसे भी भिन्न है। आत्मा शुद्ध चैतन्य धातुका पिंड, ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, परमानंदमई सिद्ध सम एक निराकुल अनंत गुण रूप पदार्थ अत्यन्त वीतराग और निर्विकार है तथा रागादि भावोंकी कालिमा मोहनी कर्म कृत विकार है तथा जो कुछ वर्तमानमें ज्ञान दर्शन व वीर्यकी कमी है वह ज्ञानावरणी दर्शनावरणी तथा अंतरायका उदय है। इन चार घातिया कर्मोंसे आत्माकी शक्ति प्रच्छन्न हो गई है और अघातिया कर्मोंने इस शरीरको व उसके बाहरी सम्बधको बनाया है। कर्मोंके संबधको ध्यानमें न लेकर यदि विचार जाय तो यह जीव पदार्थ अपने यथार्थ जीवत्वमें-शुद्धोपयोगमें कल्लोल करता हुआ जान पडेगा। और तब उसके साथ लगे हुए सर्व कार्माण तैजस औदारिक आदि शरीर पुद्गलके रचे भिन्न मालूम पड़ेंगे। इस भिन्नताके ज्ञानकी ही बड़ी भारी आवश्यक्ता है। श्री गुरुने शिष्यको यही बात बताई है जिससे शिष्यने अच्छी तरह समझ लिया है कि मैं अपनेको जो देव, मनुष्य, पशु नारकी कहा करता था व अपनेको रागी, द्वेषी, मोही, कामी, क्रोधी माना करता था सो सब मेरा अज्ञान मात्र था। अब मैंने

समझ लिया है कि मैं तो शुद्ध आनंदमई चैतन्य पदार्थ अपने ही शुद्ध भावोंका कर्ता और उनहीका भोक्ता हू। मेरेसे पुद्गलका कुछ भी सम्बन्ध नही है। उसकी संगति मेरे लिये विघ्नकारक है, मैं उससे छूटा हुआ ही सुखी रह सक्ता हू। इस तरहका श्रृद्धा भाव शिष्यमें जब जम जाता है तब वह रुचिवान होकर ऐसा प्रयत्न करता है कि जिससे पुद्गलका सयोग हट जाय और आत्माका स्वभाव जो गुप्त है सो प्रगट हो जावे। इस रुचिके आते ही वह शिष्य सम्यग्दृष्टी तथा सम्यकज्ञानी हो जाता है तथा स्वरूपाचरण चारित्रको पाकर उसीके अनुभवके उद्योगको बढाते हुए सम्यक् चारित्रमें उन्नति करता जाता है। वास्तवमें जीव पुद्गलका भेद विज्ञान ही मोक्षका बीज है स्वतन्त्रताका उपाय है तथा आनद प्राप्तिका श्रोत है। शिष्यको उचित है कि इस भेद ज्ञानके अभ्यास-को ऐसी सम्यक् रीतिसे करे जिससे उसको हरएक मिश्रित पदार्थ-में दोनोंका स्वभाव भिन्न २ दीखा करे। जैसे अपने आत्माको पुद्गलसे भिन्न देखे ऐसे ही दूसरोंकी आत्माको भी पुद्गलसे भिन्न देखा करे। सर्व तत्त्वोंका साराश निज स्वरूपता श्रृद्धान, ज्ञान तथा चारित्र है। इसी बातका वर्णन श्रीसमयसारजीमें भले प्रकार किया है।

ववहारणयेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंताभावा ण दु केइ णिच्छयणयस्स ॥ ६१ ॥

भाव यह है कि वर्णादिसे लेकर जीवसमास, मार्गणास्थान, बंधस्थान, गुणस्थानादि जितना कुछ वर्णन जीवके साथमें किया गया है सो सब व्यवहार नयसे जानना। निश्चय नयसे ये कोई भी

भेद इस जीवमें नहीं है। जिन गुणस्थानोंको खासकर जीवको कहा जाता है वे भी इस जीवके स्वभाव नहीं है। श्रीकुंदकुंद महाराज कहते हैं—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्टाणा।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता॥ ७३॥

भाव यह है कि मोहनी कर्मोके उदयसे जिन गुणस्थानोंको कहा गया है वे जीवरूप कैसे हो सक्ते हैं वे तो नित्य अचेतन हैं। चेतन स्वरूप आत्मा न मिथ्याती है, न सम्यक्ती है, न श्रावक है, न मुनी है, न केवली है। ये सब नाम कर्मावरणकी अपेक्षासे हैं। वह चेतन प्रभु परमशुद्ध ज्ञातादृष्टा अपने स्वभावरूप परमानंदका सागर है। उसमें और सब औपाधिक विकल्पोंका करना लोगोंका व्यवहार है। श्रीअमृतचंद्रस्वामीने भी समयसार कलशमें कहा है.—

चिच्छक्तिव्याप्त सर्वस्व सारो जीव इयानयं।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥ ३॥
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्नाभावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्॥५॥

भाव यह है कि यह जीव चैतन्य शक्तिसे व्याप्त सर्वथा सार रूप पदार्थ उतना ही है जहांतक चैतन्य शक्ति है। इसके सिवाय सर्व ही रागादिक भाव पुद्गल मई हैं। वर्णादि व राग मोहादि ये सर्व भाव इस आत्मासे भिन्न है–इससे निश्चय नयसे जब अपने भीतर अनुभव किया जाता है तो वहा एक अपना शुद्ध उत्कृष्ट भाव ही दिखता है परन्तु ये सर्व परभाव नहीं

मालूम पड़ते है । इस तरह ज्ञानीको अपने जीवका स्वभाव सबसे भिन्न यथार्थ रूपसे ही प्रतीतिमें लाना चाहिये ।

श्री गुणभद्राचार्य कहते है:-

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज् ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥

भाव यह है कि आत्मा ज्ञान स्वभाव है । स्वभावकी प्राप्तिको अच्युति या स्वाधीनता या मोक्ष कहते है । इसलिये जो मोक्षको चाहता है उसे ज्ञान भावना निरतर करना चाहिये अर्थात अपनी शुद्ध वस्तुपर लक्ष रखकर उसीका मनन, चिन्तवन तथा ध्यान करना चाहिये ।

दोहा:-जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्वका सार ।
अन्य कछु व्याख्यान है, या हीका विस्तार ॥ ५० ॥

उत्थानिका-अब आचार्य इस शास्त्रके पढनेका जो साक्षात तथा परंपरा फल है उसको बताते हैं:—

श्लोक-इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ॥
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥ ५१ ॥

सामान्यार्थ-जो बुद्धिमान भव्य जीव इस इष्टोपदेश ग्रथको भले प्रकार पढकर अपने अन्दर आत्मज्ञानके बलसे मान व अपमानमें समता रखता हुआ व पर पदार्थमें मोहका व रागका मिथ्या हठ छोडता हुआ बनमें व नगरमें बसता है सो अनुपम मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ-(धीमान्) हित और अहितकी परीक्षामें चतुर ऐसा बुद्धिमान् (भव्य) भव्य जीव जिसमें कि अनंत ज्ञानादि गुणोंके प्रगट होनेकी योग्यता है (इति) इस प्रकार ऊपर कहे हुए (इष्टोपदेशं) इष्टोपदेश ग्रंथको जिसमें व जिसके द्वारा अपना इष्ट जो सुख व उसका कारण मोक्ष तथा मोक्षका उपाय रूप अपने आत्माका ध्यान यथार्थ रीतिसे उपदेश किया गया है ऐसे ग्रंथको (सम्यक्) भले प्रकार निश्चय और व्यवहार नयोंके द्वारा (अधीत्य) पढ़कर व चिंतवन कर (सजने) ग्रामादिमें (वा वने) अथवा वनमें (निवसन्) विधि पूर्वक रहता हुआ (मुक्ताग्रहः) तथा बाहरी पदार्थोंमें व परभावोंमे मिथ्या अभिप्रायको हटाता हुआ और (स्वमतात्) इष्टोपदेशके पठन चिंतवनसे उत्पन्न जो आत्म ज्ञान उसके बलसे (मानापमानसमता) अपने महत्त्वके होनेपर या महत्त्वके खंडन होने रूप अपमानके होनेपर समता अर्थात् रागद्वेषके अभावको (वितन्य) विस्तारता हुआ (निरुपमां) जिनकी उपमा नहीं हो सकती ऐसी मुक्तिश्रिय) अनंत ज्ञानादिकी संपत्तिरूप मोक्षलक्ष्मीको (उपयाति) प्राप्त करलेता है।

कहा भी है-समाधिशतकमें—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात् ॥ ३९ ॥

भाव यह है कि जिस समय मोहके उदयसे तपस्वीको राग द्वेष हो जावे उसी समय उसको अपनेमें तिष्टे हुए आत्मस्वरूपकी भावना करनी चाहिये तब वे रागद्वेष क्षणभरमें शान्त हो जावेंगे।

भावार्थ-आचार्यने ग्रंथके पढनेवालेको इस श्लोकमें आशीर्वाद दी है तथा उसका फल बताया है कि जो अपने हितको चाहनेवाला भव्य जीव इस ग्रन्थको पढ़ेगा उसको साक्षात् फल तो यह होगा कि उसका अज्ञान मिट जायगा। वह यह जान जायगा कि निश्चयनयसे तत्त्वोंका क्या स्वरूप है व व्यवहारमें कैसा कहा जाता है तथा यह श्रद्धा पैदा कर लेगा कि एक शुद्ध आत्माका स्वरूप ही ध्यान करने योग्य है-इसीके ध्यानसे मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति हो सक्ती है। ऐसी रुचि प्राप्त करके यदि वह घर ही में श्रावकोंके व्रतोंको पालता रहेगा अथवा घर त्याग साधु हो बनमें रहता हुआ साधुके चारित्रको पालता रहेगा तो उसके थोड़े कालके आत्म ज्ञानके अभ्यासंसे यह फल होगा कि उसको मान मिलने पर वह अहंकार न करेगा व उसका अपमान होनेपर वह खेद नहीं प्राप्त करेगा। यह बात अवश्य है कि ऐसे ज्ञानी जीवके भीतर पर पदार्थमें आत्म-बुद्धिका हठ निकल गया है, तथा इस प्रकारका भी हठ न रहा हो कि मुझे घर ही में रहना चाहिये व मुझे वन हीमें जाना चाहिये। यदि कषायोंकी अति उपशमतासे दीक्षा योग्य वैराग्य आजाय तो समता भावसे मुनि होजाता है। यदि उतना वैराग्य न आवे तो गृहस्थमें ही रहकर समता भावसे अभ्यास करता है और उसके निश्चय व व्यवहार नयका भी पक्षपात नहीं होता है। वह दोनों नयोंसे उदासीन रहता हुआ विकल्प अवस्थामें जब जिस नयसे अपना मतलब समझता है तब उस नयके द्वारा विचार करता है परन्तु भावना सदा ही नयोंके विकल्पसे परे निज आत्मतत्त्वकी रखता है ऐसा आत्मज्ञानी पुरुष

यदि मुनि अवस्थामें उत्तम वज्रवृषभनाराच संहननका धारी होकर क्षपकश्रेणी पर आरूढ हो जाता है तो उसी जन्मसे चार घातिया नाश केवलज्ञान पाकर फिर चार अघातियोंका भी नाश कर मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है-परम स्वाधीन परम सुखी व आवागमन रहित निराकुल हो जाता है, यदि मुनि तद्भव मोक्षगामी नहीं होता है तो उत्तम देव गतिमें जाता है फिर वहासे आकर तीसरे भव व अन्य किसी भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यदि श्रावकके व्रतोंको पालता है तो १६सोल्ह स्वर्गतक जाता है फिर कुछ भवोंमें मुनिव्रत द्वारा मुक्त हो जाता है। अभ्यास करते हुए जब कभी रागद्वेष पैदा हो जावें तब ही आत्माका शुद्ध स्वरूप विचार करले, रागद्वेष चले जांयगे इस तरह आत्माका ध्यान करते हुए स्वरूपका लाभ होता है। इस ग्रंथका नाम आचार्यने इसीलिये इष्टोपदेश रक्खा है कि इसमें सच्चे सुखके अनुभवका उपाय बताया है जो कि परम इष्ट है यह सुख पूर्णपने मोक्ष अवस्थामें मिलता है इसलिये मोक्ष परम इष्ट है। मोक्षका कारण निज आत्माका ध्यान है इस लिये स्वात्माध्यान परम इष्ट है। इस तरह सुख, मोक्ष तथा स्वात्मध्यन तीनोंका उपदेश इस ग्रंथमें किया गया है। इस कालमें भी जो भाई या बहन इस ग्रंथको अच्छी तरह विचार कर पढेंगे, मनन करेंगे व चित्तमे धारण करेंगे उनको अपूर्व सुख शांतिका लाभ होगा। वे कषायोको उपशम करते चले जायगे। उनका जीवन परम न्याय युक्त हो जायगा। वे व्यवहारमें सर्व जीवोंके हितकारी हो जायगे।

उनके आत्माके बलकी वृद्धि होती जायगी, तथा कर्मोंकी निर्जरा अधिक व संवर विशेष होगा–जिसके फलसे यह जीव शुद्ध होते होते एक दिन बिलकुल शुद्ध हो जावेगा–अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेगा। वास्तवमें इस जीवका सच्चा हित स्वाधीन होने हीमे है। इसलिये इसे इस दुर्लभ मनुष्य जन्ममें उस कर्तव्यको सिद्ध करनेके लिये निश्चय रत्नत्रयमई निज आत्माका ही ध्यान करना चाहिये। स्वात्मध्यानसे ही स्वतंत्रताका लाभ होता है।

श्री समयसार कलशमें कहा भी है:—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहज बोधकला सुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११

भाव यह है कि निज पद मात्र क्रियाकांडसे नहीं मिल सक्ता है। यह स्वाधीन पद स्वाभाविक आत्मज्ञानकी कलासे सुलभतासे हाथमें आजाता है इसलिये जगतके लोगोंको चाहिये कि वे अपने आत्मज्ञानकी कलाके बलसे इस पदकी प्राप्तिका यत्न करें।

दोहा–इष्ट उपदेश सुग्रंथको, पढ़े सुबुद्धी भव्य।
मान अमानमें साम्यता, निज मनसे कर्तव्य॥
आ ग्रह छोड़ स्वग्राममें, वा वनमें सु वसेय।
उपमारहित स्वमोक्ष श्री, निजकर सहज हि लेय ॥५१॥

आगे टीकाकार पंडित आशाधरजी अंतिम मंगलाचरणमें ग्रंथका हेतु बताते हैं.—

विनेयेंदुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता॥ १॥

भावार्थ-मुझ आशाधर पंडितने श्री विनयचंद्र मुनिके उपदेशसे भव्य जीवोंके उपकारके हेतु इष्टोपदेश ग्रन्थकी संस्कृत टीका रची है।

उपशम इव मूर्त्तः सागरेंदुमुनीन्द्रादजनि विनयचंद्रः सच्चकोरैकचंद्रः।
जगदमृतसगर्भाशास्त्रसंदर्भगर्भः शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः

भावार्थ-वह श्री विनयचंद्र मुनि मानो शांतिकी मूर्ति हैं, सागरचंद्र मुनीन्द्रके शिष्य है, सज्जन पुरुष रूपी चकोरके लिये एक चंद्रमाके तुल्य संतोष प्रद है। जगत्को अमृतानन्दके दाता है, शास्त्रमें अतिशय प्रवीण हैं व जिन पवित्र चारित्रके धारक साधुके वचन भव्योंको प्रसन्न करते है।

जयंति जगतीवंद्या श्रीमन्नेमिजिनांन्हयः।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः ॥३॥

भावार्थ-तीन जगतसे वंदनीक श्री नेमनाथ भगवानके चरणकमल जयवंत हों जिनको आश्रय करने वाले जीव उनकी चरण रजको भी मस्तकपर आज्ञा रूप धारण करते है।

ग्रन्थका सार व भाषाकारकी प्रशस्ति ।

इस ग्रंथको श्री पूज्यपाद स्वामीने जो बहुत बड़े वैयाकरणी, तत्त्वज्ञानी साधु हो गए हैं, रचा है-उनके रचित श्री जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि (तत्वार्थ सूत्रकी टीका) व समाधिशतक ग्रथ बहुत प्रसिद्ध हैं। यह आचार्य विक्रममें चतुर्थ शताद्वीके अनुमान हुए है-इस ग्रथकी सस्कृत टीका विद्वान् पंडित आशाधरने जो विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीमें हुए हैं बहुत ही विस्तारसे और बहुत ही शुद्ध आत्मप्रेमसे रची है, उसकी पूर्ण भाषाटीका न देखकर अध्यात्म प्रेमियोके लाभको विचार कर मुझ तुच्छ बुद्धिने अपनी अल्प शक्तिके अनुसार केवल धर्मप्रेम वश इसकी भाषाटीका रची है। जो विद्वान् पंडितजन हों वे मेरी भूल चूकको क्षमा कर तथा सुधार कर मेरे ऊपर कृपा करें तथा इस भाषाटीकाका जगतमें प्रचार करें जिससे कल्याणके इच्छुक सुख शांतिका लाभ करें। इस ग्रन्थमें आचार्यने पहले ही श्लोकमें मंगलाचरण करते हुए जो सूचना की थी कि निज आत्मस्वभावकी प्राप्ति स्वयं अपने ही स्वात्मानुभवसे होती है उसी बातको ५१ श्लोकोंमें अच्छी तरह बता दिया है। जैसे सुवर्ण अपने ही उपादानके बलसे स्वयं शुद्ध हो जाता है वैसे यह आत्मा अपने ही आत्मज्ञानके बलसे स्वयं परमात्मा हो जाता है। बाह्य व्यवहार अग्नि आदिका आलम्बन केवल सुवर्णको निमित्त मात्र सहकारी है वैसे निश्चय रत्नत्रयमई आत्मज्ञानके लिये व्यवहार रत्नत्रयका साधन निमित्त मात्र सहकारी है। स्वामीने यह भी बताया है

कि जब तक मोक्षकी प्राप्ति न हो तब तक दुर्गतिसे बचकर सुगतिमें ही रहना अच्छा है। वह सुगति व्रतादिके पालनसे तथा आत्मज्ञानके अभ्याससे जो पुण्यकर्म बंधता है उसके द्वारा होती है इसलिये हिंसादि अव्रतोंसे बचकर शुद्धोपयोगकी भावना रूप शुद्धोपयोगमें वर्तना चाहिये। यद्यपि स्वर्गमें सुख भोगभूमि व कर्मभूमिसे विशेष है तथापि सर्व ही गतियोंमें जितना भी इन्द्रियजनित सुख है वह सब अतृप्तिकारी व तृष्णावर्द्धक व कर्मबंधक होनेसे दुःखरूप ही है। संसाराशक्त व आत्मसुखके अश्रद्धालुओंकोही मोहके कारण वह सुख सुख भासता है जैसे उन्मत्त पुरुषको पदार्थ ठीक नहीं दिखते वैसे मोही अज्ञानीको वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं भासता है। अज्ञानके ही प्रतापसे यह मोंदू जीव सर्वथा भिन्न देह, स्त्री, पुत्रादिको अपना मानकर राग करता है तथा किन ही को शत्रु जानकर उनसे द्वेष करता है। यह नहीं विचारता है कि सुख तथा दुःख जीवको अपने ही बांधे हुए पुण्य पापकर्मके अनुसार होता है दूसरा केवल निमित्त मात्र है इससे परसे राग द्वेष करना अज्ञानता है। इसी अज्ञानमई रागद्वेषसे यह जीव पुनः पुनः कर्म बांधकर संसारमें अनादि कालसे भ्रमता आया है तथा सुखके लिये यत्न करता हुआ विपत्तियों ही में पड़ता आया है–एक आपत्तिको हटाता है तो दूसरी सेकड़ों सामने आजाती हैं–जरा, रोग, मरणसे बचना बहुत ही दुर्लभ है। अज्ञानी जीव धन होनेसे अपनेको सुखी मानता है सो धन भी आकुलताका कारण है। चिंतामें पटकके जीवको निराकुल नहीं कर सक्ता–उसे भी एक दिन छोड़के जाना होगा। धनका नाश

शरीरका नाश जगतमें दूसरोंको नित्यप्रति होता देखकर भी अज्ञानी मोही जीव नहीं समझता है-रातदिन धनकी तृष्णामें पड़ा हुआ अपने जीवनसे भी अधिक धनको गिनता है और धर्मकी भी कुछ परवाह नहीं करता है। फिर आचार्यने उस अज्ञानीको समझाया है कि जो धन रहित है और संसारसे छूटना तो चाहता है पर छूटनेका उपाय धन कमाकर दानादि करना समझता है-उसको शुचि शरीरमें कीचड़ लपेटकर फिर स्नानका दृष्टांत दिया है-अर्थात् आत्महितैषीको धनके संग्रहमें न पड़कर भोगोंकी इच्छा छोड़कर वैराग्यभाव भजकर आत्मध्यान ही करना चाहिये-जीवका उपकार आत्मध्यानसे ही होता है। दानादि शुभ कर्मसे तो फिर पुण्य कर्म बांध संसारमें ही वास करता है। संसारका नाश कर्मोंके नाशसे होगा। वह कर्मका नाश आत्मध्यानसे होना संभव है। इस तरह अज्ञानी शिष्यको आत्मज्ञानकी रुचि दिलाकर आचार्यने आत्मध्यानका उपाय बताया है कि शिष्यको पहले तो अच्छी तरह शुद्ध निश्चय नयसे आत्माके स्वभावका निश्चय करना चाहिये कि वह एक अविनाशी अमूर्तीक ज्ञाता दृष्टा, अत्यन्त सुखी, वीतरागी, शरीरमें शरीर प्रमाण आकारधारी अनंत गुणोंका धनी, एक चैतन्य मई पदार्थ सिद्ध भगवानके समान शुद्ध है वही मैं हूं, ऐसा निश्चय करके इन्द्रियोंके विषयोंको रोककर एक चित्त हो अपने आत्मामें ही आत्माका ध्यान अपने आत्माके द्वारा करना चाहिये, आत्मध्यानके प्रतापसे आस्रवका निरोध व निर्जराकी प्राप्ति होगी। जब यह भव्य आत्मामें एकता

पनेको प्राप्त करेगा तब ध्याता व ध्येयका भेद नहीं रहेगा। तब स्वरूपमें रमनेसे यह संसारसे ममता रहित हो जायगा।

जो कोई ममत्व छोड़ता है वही संसारसे मुक्त हो जाता है। जो कोई निज स्वरूपको देहादिसे भिन्न भाता है वही ममता हटाता है। जो आत्मानुभवमें दृढ़ अभ्यासी हो जाता है वह अपना जन्म, मरण, बाल, युवा व बुढापापना नहीं मानता है किन्तु इन सबको अपनेसे भिन्न शरीरमें समझता है। वह ज्ञानी सर्व पुद्गलोंको वार वार भोगी हुई झूठनके समान समझकर उनकी इच्छाको त्याग देता है और अपनेही हितकी तरफ झुक जाता है। जो निज हित चाहेगा वह अवश्य निज हित सम्पादन कर लेगा। वह शरीर कृतघ्नीके मोहको छोड़कर निजोपकारमें लग जायगा। आचार्यने यह भी बताया है कि आत्मानुभव पानेका मार्ग गुरूसे उपदेश पाकर तत्त्वका अभ्यास करता है। यद्यपि बाहरी गुरू निमित्तमात्र गुरू हैं परंतु असली गुरू अपना आपही है क्योंकि अतरंगकी प्रेरणाके विना तत्त्वाभ्यास होना दुर्लभ है। योगीको उचित है कि भलेप्रकार आत्मरुचि प्राप्त करके एकांतमें बैठकर निज आत्माके स्वरूपके ध्यानका अभ्यास करे— अभ्यास करते करते ज्यों ज्यो स्वात्मानुभव जागेगा त्यों त्यों इंद्रियोंके विषय जो सुलभ भी है अरुचिकर भासने लग जांयगे। तथा जैसे जैसे इन्द्रिय विषय न सुहावेंगे तैसे तैसे स्वात्माकी अनुभूति बढ़ती जायगी। जिसको स्वात्मानंदका मजा आ जाता है वह इस जगतको नाटकका खेल समझता है, नित्य आत्मा-

नंदकी चाह रखता है–कहीं मन अन्य काममें प्रयोजनवश लगता भी है तो शीघ्र वहांसे हटा लेता है, निर्जन स्थानमें रहता है जहां लोगोंकी भीड़भाड़ न हो, वह ऐसा आत्मस्वभावमें मस्त हो जाता है कि बोलते, चलते, देखते हुए भी वह आत्मभावनाके प्रेमको नहीं भूलता है और जब स्वरूपमें एकाग्र हो जाता है तब आत्मा कैसा है क्या है इन विकल्पोंको भी नहीं करता है–आत्मामें परम रति करता हुआ परपदार्थमें रागद्वेष नहीं करता है–इसीसे वह कर्मबन्ध न करता हुआ कर्मोंसे आत्माको मुक्त करता है। सो यह नियम ही है कि जो जिसको चाहता है वह उसको प्राप्त होता है–पुद्गलका भक्त वारवार गतियोंमें पुद्गलको पाता है–जब कि पुद्गलका वैरागी आत्माका प्रेमी देहादिसे छूट जाता है। आत्मध्यान करनेसे कोई अपूर्व एक अतींद्रिय सुख प्राप्त होता है-वही आनंद अग्निके समान कर्मोंको जला देता है। वास्तवमें आत्मज्योतिकी महिमा अकथनीय है–उसकी रमणता यहां भी सुख प्रदान करती है–और परलोकमें भी जीवको मोक्षके अविनाशी आसन पर विराजमान कर देती है–उसे कर्मविजयी, स्वतंत्र, स्वाधीन परमसुखी कर देती है इस तरह आचार्यने बताया है कि जो कोई अपने आत्माके स्वभावको अपना और पुद्गलके सर्व विकारोंको पुद्गलका समझता है वही सार तत्त्वको पाकर परमसुखी और स्वाधीन हो सक्ता है। यही इस ग्रंथका सार है।

भाषाकारका परिचय ।

दोहा:—राजा अग्र प्रतापधर, क्षत्रियकुलमें सार ।
अग्रवाल शुभवंशके, कर्त्ता शुभ आचार ॥ १ ॥
इसी वंशमें ऊपजे, रायसिंह गुणधार ।
फर्रुखनगर निवास तज, लक्ष्मणपुर पगधार ॥ २ ॥
व्यापारी सुगृहस्थ वर, जैन धर्म प्रतिपाल ।
तिनके पुत्र परम गुणी, मंगलसैन दयाल ॥ ३ ॥
जिन कलकत्ता वासकर, धर्म ज्ञान फैलाय ।
आतम सुरस पीवत रहे, औरनको पिलवाय ॥ ४ ॥
उनके पुत्र गृहस्थवर, मक्खनलाल विचार ।
पत्नी मार्दव गुणभरी, देवि नारायणसार ॥ ५ ॥
ताके पुत्र चतुर भए, चतुर दान समजान ।
ज्येष्ठ सु शांतीलाल हैं, फिर लाल अनंत वखान ॥ ६ ॥
मैं सीतलप्रसाद फिर, चौथे पन्नालाल ।
वय युवान ही उठ गए, द्वितिय चतुर्थ सुबाल ॥ ७ ॥
विक्रम पैंतिस उन्निसा, लियो जैन अवतार ।
वालकपन विद्या कछू, पढ़ी सुमति अनुसार ॥ ८ ॥
धर्मी लखनौ नगरकी, संगतिसे रुचि पाय ।
कलकत्तामें वासकर, धर्म प्रेम बढ़वाय ॥ ९ ॥
जिनवाणी स्वाध्याय कर, कियो धर्मका वोध ।
निज अनुभव अभ्यासमें, उपजो अपना सोध ॥१०॥
कछुक काल गृहवासमें, आकुलता बहु भाय ।

गृहतजि श्रावक व्रत धरो, त्रिशति द्वय वय पाय ॥ ११॥
जिनवाणीके प्रेम वश, पुस्तक रची विचार।
गृहस्थधर्म धर्म आतम बर, माला तत्त्व सम्हार ॥ १२ ॥
सेठ सुमाणकचंद वर, धर्मी दानी सार।
सूरतीय चंद मूलके, बहु अनुरोध विचर ॥१३॥
जीवन चरित विशाल कर, प्रगटायो हुलसाय।
महा पुरुषका अनुकरण, सभीकरें चितलाय ॥१४॥
कुंदकुंद आचार्यके, ग्रंथ महा अध्यात्म।
पढकर मनन विचारकर, भक्ति ल्ही निज आतम ॥१५॥
उनकृत नियम सु सारको, सार समयको मान।
दोनोंकी भाषा रची, संस्कृत वृत्ति जान ॥१६॥
पूज्यपाद आचार्यकृत, शतक समाधी सार।
प्रभाचंद्रकी वृत्ति सम, टीका रची विचार ॥१७॥
जैनी तत्त्व विचार कर, श्री जुगमधरलाल।
बारिष्टर प्रख्यात जग, न्यायवान गुणमाल ॥१८॥
कर सहाय उनको कछु, इंग्लिश वृत्ति रचाय।
मोक्षशास्त्र पंचास्तिमय, सार सु गोमट भाय ॥१९॥
उन्निश शत अठहत्तरे, वर्षाकाल बिचार।
अवध मुख्य पुर लखनऊ, कियो वास सुखधार ॥२०॥
अग्र खडेला गोत्रके, जैनी रुचि कर्तार।
शत गृह धनकणसे सुखी। संतोषी वृषधार ॥२१॥
तिनमें मुख्य विचारिये, नाथ किदार उदार।

देवीदास समापति, गोविंद प्रसाद विचार ॥२२॥
दुर्गाप्रसाद सुलाल प्रभु, नाम विशेश्वरलाल।
मुन्नेलाल चद नेम हैं, वृषभ सुन्दरलाल ॥२३॥
दौलतमल मन्त्री सभा, लाल वराती जान।
अजितप्रसाद वकील हैं, धर्मी ज्ञानी मान ॥२४॥
गोकुलचंद वकील भी, मद्य निवारणहार।
लाडू मांगीलाल भर, तेजपाल सोनपाल ॥२५॥
लाल चिरजी स्वरूपचंद, ऋषभदास हर्षचन्द।
ओसवाल वशज गुणी, फतहचन्द वृषनंद ॥ २६ ॥
इत्यादि साधर्मि बहु, धर्म दिगम्बर पाल।
निज वित सम नित दानकर, धर्म अर्थ प्रतिपाल ॥२७॥
चौक सु अहिया गंजमें, पार सआदत गंज।
जिन मदिर षट् बन रहे, दर्शनसे दुख भज ॥ २८ ॥
औषधिशालामें बटत, औषधि रोग निवार।
शाला पाठ सुजैनकी, बालक जन हितकार ॥ २९ ॥
दान चार परकारका, देय गृही रुचि धार।
धर्म प्रभावन हेतु रथ, उत्सव वार्षिक कार ॥ ३० ॥
जैन बाग नद पार है, मडप बना विशाल।
धर्मी आ वृष सेवते, वृद्ध युवा तिय बाल ॥ ३१ ॥
पुस्तक आलय सार है, ज्ञानदान कर्तार।
जैन अजैन सुलाभ ले, सुख पाते एक सार ॥ ३२ ॥
शुभ सगतिमें वास कर, रंच कष्ट नहिं पाय।
धर्म सुनिज साधन कियो। निराकुल चित लाय ॥३३॥

अवसर कुछ शुभ काढ़के, अध्यातम रुचि जान।
इष्टोपदेश भाषा रची, मति माफिक शुभ मान॥ ३४॥
आतमज्ञानी पण्डित-सेतु, अरदास विनीत।
यदि प्रमादसे भूल हो सोधो करो पुनीत॥ ३५॥
आश्विन सुदि अष्टमि दिवस, सूर्यवार सुखकार।
निशमें यह पूरण करी, पढ़ो गुणो रुचि धार॥ ३६॥
संभव स्वामी चैत्य घर, निकट शरण निज पाय।
उन चरणन परसादसे, हुई बुद्धि अधिकाय॥ ३७॥
या रचनाके करनसे, भयो जो सुन्दर भाव।
धर्म प्रेम वैराग्य शुभ, अध्यातम दर्शाव॥ ३८॥
निजानंद अनुभव भयो, पुण्य बध्यो सुविशाल।
तिन सबके कारण सही, श्री जिनेन्द्र गुणमाल॥ ३९॥
मन वच काय सुपौद्गलिक, इनमें नहिं कछु ज्ञान।
आतमका करतब नहीं, वीतराग गुणवान॥ ४०॥
भक्ति श्री जिन चरणकी, उमगी आतम आय।
सो ही प्रेरक हो गई, चले मन वच काय॥ ४१॥
इधर उधरसे शब्द बहु, संचय कर एक ठौर।
ग्रंथ बनो शोभामई, नहिं कर तब कुछ और॥ ४२॥
सुखसागर वर्द्धन निमित, श्री जिन वच कर चंद्र।
जो जाने माने सुधी, साचा दास जिनेन्द्र॥ ४३॥
पंच परम गुरु शरण है सब हीको सुखदाय।
भाव द्रव्यसे नमनकर, भवि नित पुण्य उपाय॥ ४४॥

मंगलकारी नित रहे, वाणी जिन सुखकार।
जो भावें आदर करें, शिव सुखमें परतार॥ ४५ ॥
इस अध्यातम ग्रथको, जिन वाणीका सार।
पढ़ो पढ़ावो ध्यान कर, आतम ज्ञान विचार॥ ४६ ॥
कर प्रकाश इस शास्त्रका, जगमें धर्म बढ़ाय।
पथ प्रभावनासे बढ़े, जगजीवन सुखदाय॥ ४७ ॥
ज्ञान दान सम और नहिं, वृष प्रभाव कर्तार।
तातें ग्रंथ प्रकाशिये, सत्य ज्ञान दातार॥४८॥
जैनबागमें तिष्टकर। समता उरमें धार।
उन्निस सै इकीसमें। अक्टूबर नौ सार॥४९॥
टीका लिख धन मान भव, उत्तम फल दातार।
निज हित सुखुदधि साधिया, जाका नहि है पार॥५०॥

इति।

शुभं भवतु, कल्याणं भवतु, आत्मबोधं भवतु॥

मिती आश्विन सुदी अष्टमी रविवार विक्रम सम्वत १९७८ तारीख ९ अक्टूबर १९२१ की रात्रिको ५ बजे सवेरा होते होते भाषा टीका पूर्ण की।

द० ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।